

मोहरिते सच्चवयणस्स पलिमंथू (ठाणंगसुत्त, ५२९)



अनुसंधान

प्राकृतभाषा अने जैनसाहित्य विषयक संपादन, संशोधन, माहिती वगैरेनी पत्रिका

संपादक : विजयशीलचन्द्रसूरि

४०



कल्प-व्याख्यान करतां आ. जिनचन्द्रसूरि - मांडवी : खरतरगच्छ संघ भण्डार : ताडपत्र

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी
स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अहमदाबाद

2007

मोहरिते सच्चवयणस्स पलिमंथू (ठाणंगसुत्त, ५२९)
'मुखरता सत्यवचननी विघातक छे'

अनुसंधान

प्राकृतभाषा अने जैनसाहित्य-विषयक
सम्पादन, संशोधन, माहिती वगैरेनी पत्रिका

४०

सम्पादक:

विजयशीलचन्द्रसूरि



श्रीहेमचन्द्राचार्य

कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी

स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि

अहमदाबाद

२००७

अनुसन्धान ४०

आद्य सम्पादक: डॉ. हरिवल्लभ भायाणी

सम्पादक: विजयशीलचन्द्रसूरि

सम्पर्क: C/o. अतुल एच. कापडिया
A-9, जागृति फ्लेट्स, पालडी
महावीर टावर पाछळ
अमदावाद-३८०००७
फोन : ०७९-२६५७४९८१

प्रकाशक: कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम
जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि,
अहमदाबाद

प्राप्तिस्थान: (१) आ. श्रीविजयनेमिसूरि जैन स्वाध्याय मन्दिर
१२, भगतबाग, जैननगर, नवा शारदामन्दिर रोड,
आणंदजी कल्याणजी पेढीनी बाजुमां,
अमदावाद-३८०००७
(२) सरस्वती पुस्तक भण्डार
११२, हाथीखाना, रतनपोल,
अमदावाद-३८०००१

मूल्य: Rs. 80-00

मुद्रक:

क्रिश्ना ग्राफिक्स, किरीट हरजीभाई पटेल
९६६, नारणपुरा जूना गाम, अमदावाद-३८००१३
(फोन: ०७९-२७४९४३९३)

निवेदन

संशोधननुं लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति अने जिज्ञासा-तृप्ति छे एटलुं जो समजाई जाय, तो घणा विसंवादोथी बची शकाय. संशोधन ए कोई व्यक्तिने, ग्रन्थने, ग्रन्थकारने, परम्पराने के अन्य कोई बाबतने ऊतारी पाडवा के तोडी पाडवा माटेनी प्रक्रिया नथी. कोई बाबत, तुलनात्मक के समीक्षात्मक दृष्टि ए थतां अध्ययनना परिणामे, भूलभरेली पुरवार थाय, तो तेने ते स्वरूपे एटले के साचा के योग्य स्वरूपे प्रकाशित तथा प्रस्तुत करे तेनुं नाम संशोधन, हवे कोई आ प्रक्रियाथी अनभिज्ञ के पछी आवी प्रक्रिया परत्वे पूर्वग्रहदृष्टिथी ज विचारनार व्यक्ति होय अने तेने 'पीळुं एटलुं पित्तळ' ज देखाय, तो तेमां संशोधन/संशोधकनो दोष न मनाय. छतां कोई तेम माने तो ते तेना ज हिसाबे ने जोखमे छे.

बाकी संशोधन ए तो एक सतत चाल्या करवी जोईती शुद्धीकरणनी प्रक्रिया छे, जो तेनी पाछळ बीजो कोई दुराशय न होय तो.

शी.

अनुक्रमणिका

श्री देवभद्रसूरि रचित चतुर्विंशति - जिन स्तोत्राणि	म० विनयसागर	१
श्री नरेन्द्रप्रभसूरि विरचित - सूक्तमाला	अमृत पटेल	२१
वाचकोत्तंस-श्रीज्ञानप्रमोदगणि-सन्दृब्ध आदिनाथ-पार्श्वनाथ-स्तोत्र	म० विनयसागर	३३
अज्ञातकर्तृक श्री आदिनाथ-बाललीला	सं. विजयशीलचन्द्रसूरि	३९
कविरूपचन्द्रकृत जिनानां पञ्चकल्याणकानि	सं. विजयशीलचन्द्रसूरि	४४
भिक्षा-विचार : जैन तथा वैदिक दृष्टि से	डॉ. अनीता बोथरा	५४
जैन और वैदिक परम्परा में वनस्पतिविचार	डॉ. कौमुदी बलदोटा	६७
षड्भाषामय श्रीऋषभप्रभुस्तव के कर्ता श्री जिनप्रभसूरि हैं	म० विनयसागर	८३
नवां प्रकाशनो		८६

श्री देवभद्रसूरि रचित चतुर्विंशति-जिन स्तोत्राणि

म० विनयसागर

वाणीकी सफलता और हृदय की अनुभूति का उद्रेक ही स्तोत्रों का प्रमुख विषय रहा है। जिनेश्वरों के पाँच कल्याणकों के अतिरिक्त उनसे सम्बन्धित जितनी भी वस्तुएँ/स्थान हैं, उनके माध्यम/वर्णन से कृतकृत्य होना ही जीवन की सफलता का आधार है। प्रस्तुत स्तोत्रों में उनके गुणगौरव यशोकीर्ति का उल्लेख कम है, उनके वर्णनों/स्थानों का उल्लेख अधिक है।

इस कृति की दुर्लभ प्रति श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, मुनिराजश्री पुण्यविजयजी के संग्रह में उपलब्ध है। सूचीपत्र भाग-१, क्रमाङ्क १३७८, परिग्रहणाङ्क नम्बर ७२५४ (१) पर सुरक्षित है। पत्र संख्या ५ है। साईज ३० x ११-४, पंक्ति २० और अक्षर संख्या ५८ है। लेखनकाल संवत् १५५० है। इस स्तोत्र का प्रारम्भ - **सिरि अजियनाह वइसाह** - से प्रारम्भ होता है। गाथा संख्या १९२ है।

प्रणेता

प्रथम ऋषभदेव स्तोत्र गाथा ८ में **देवभद्राङ्ग** और वर्द्धमान स्तोत्र गाथा ८ में **देवभद्राङ्ग** शब्द का रचनाकार ने प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि इस कृति के प्रणेता देवभद्रसूरि हैं। इसमें कहीं भी अपनी गुरु-परम्परा और गच्छ का उल्लेख नहीं किया है। लिखित प्रति १५५० की होने के कारण इससे पूर्व ही देवभद्रसूरि के सम्बन्ध में विचार आवश्यक है।

१. **देवभद्रसूरि** - नवाङ्गीटीकाकार श्री अभयदेवसूरि के विनेय शिष्य हैं। इनका दीक्षा नाम गुणचन्द्रगणि था और आचार्य बनने के पश्चात् देवभद्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके द्वारा प्रणीत वीरचरित्र, कहारयणकोष (रचना सं. ११५८) और पार्श्वनाथ चरित्र (रचना सं. ११६५) के प्राप्त हैं।

२. **देवभद्रसूरि** - चन्द्रगच्छ, बृहद् गच्छ, पिप्पलक शाखा के प्रवर्तक हैं,

जो विजयसिंहसूरि, देवभद्रसूरि, धनेश्वरसूरि की परम्परा में हैं। इनका समय १२वीं शताब्दी है।

३. देवभद्रसूरि - चन्द्रगच्छीय, शान्तिसूरि, देवभद्रसूरि, देवानन्दसूरि की परम्परा में हैं। सत्ताकाल १३वीं शती है।
४. देवभद्रसूरि - मलधारगच्छीय श्रीचन्द्रसूरि के शिष्य हैं। और संग्रहणी वृत्ति इनकी प्रमुख रचना है। समय १२वीं शताब्दी।
५. देवभद्रसूरि - पूर्णिमापक्षीय विमलगणि के शिष्य हैं। दर्शनशुद्धि-प्रकरण की टीका प्राप्त है जिसका रचना संवत् १२२४ है।
६. देवभद्रसूरि - राजगच्छीय अजितसिंहसूरि के शिष्य है। इनकी प्रमुख रचना श्रेयांसनाथ चरित्र है और इनका सत्ताकाल १२७८ से १२९८ है।

साहित्य में इन छः देवभद्रसूरि की उल्लेख प्राप्त होता है। क्रमांक २ और ३ की कोई रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं। क्रमांक ४-५ जैन प्रकरण साहित्य के टीकाकार हैं और क्रमांक ६ कथाकार हैं। क्रमांक २-६ तक इस स्तोत्र के प्रणेता हों सम्भावना कम ही नजर आती है। मेरे नम्र विचारानुसार इस कृति के प्रणेता श्री अभयदेवसूरि के विनेय ही होने चाहिए।^१

देवभद्रसूरि खरतरगच्छविरुद धारक श्री जिनेश्वरसूरि के शिष्य उपाध्याय श्री सुमतिगणि के शिष्य हैं। इनका दीक्षानाम गुणचन्द्रगणि था। आचार्य बनने के पश्चात् देवभद्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री अभयदेवसूरि के पास इन्होंने शिक्षा-दीक्षा एवं आगमिक अध्ययन किया था इसीलिए गणधरसार्द्धशतक बृहद्वृत्तिकार सुमतिगणि और खरतरगच्छ गुर्वावलीकार श्री जिनपालोपाध्याय ने अभयदेवसूरि के पास विद्या ग्रहण करने वाले और उनकी कीर्तिपताका फैलाने वाले शिष्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है :-

सतर्कन्यायचर्चाचितचतुरगिरिः श्रीप्रसन्नेन्दुसूरिः,

सूरिः श्रीवर्धमानो यतिपतिहरिभद्रो मुनीद्देवभद्रः ।

१. महावीर स्वामीके स्तवमें पांच ही कल्याणककी बात है, ६ की नहीं; अतः यह कृति किसी अन्य गच्छ के देवभद्रसूरिकी हो यह अधिक सम्भवित है। शी।

इत्याद्या सर्वविद्यार्णवसकलभुवः सञ्चरिष्णुरूकीर्तिः,
स्तम्भायन्तेधुनापि श्रुतचरणरमाराजिनो यस्य शिष्याः ॥

इस पद्य का उल्लेख श्री जिनवल्लभगणि ने चित्रकूटीय वीरचैत्य प्रशस्ति में भी किया है। देवभद्रसूरि प्रसन्नचन्द्रसूरि के अत्यन्त कृपापात्र थे। आचार्य देवभद्रसूरि जैनागमों के साथ कथानुयोग के भी उद्भट विद्वान् थे। उनके द्वारा प्रणीत निम्न ग्रन्थ प्राप्त होते हैं :-

महावीर चरित्र (११३९)	कथारत्नकोश (११५८)
पार्श्वनाथ चरित्र (११६८)	प्रमाण प्रकाश
संवेगमञ्जरी	अनन्तनाथ स्तोत्र
चतुर्विंशति जिन स्तोत्राणि(?)	स्तम्भतीर्थ पार्श्वनाथ स्तोत्र
पार्श्वनाथ दशभव स्तोत्र	वीतराग स्तोत्र

जिनचरित्र और स्तोत्रों को देखते हुए यह कृति भी इन्हीं की मानी जा सकती है।

वर्ण्य-विषय

प्रस्तुत स्तोत्रों में २४ तीर्थकरों के ३२ स्थानकों का वर्णन है। प्रत्येक स्तोत्र में तीर्थकरों का नामोल्लेख करते हुए ८ गाथाओं में यह वर्णन किया गया है। स्थानकों का वर्णन निम्न है :-

तीर्थकर नाम - १. च्यवन स्थान, २. च्यवन तिथि, ३. जन्मभूमि, ४. जन्मतिथि, ५. पितृनाम, ६. मातृनाम, ७. शरीर वर्ण, ८. शरीर माप, ९. लाञ्छन, १०. कुमारकाल, ११. राज्यकाल, १२. दीक्षा तप, १३. दीक्षा तिथि, १४. दीक्षा स्थान, १५. पारणक, १६. दाता, १७. दीक्षा परिवार, १८. छद्मस्थ काल, १९. ज्ञान नगरी, २०. ज्ञान तिथि, २१. गणधर संख्या, २२. साधु संख्या, २३. साध्वी संख्या, २४. शासन देव, २५. शासन देवी, २६. भक्त, २७. दीक्षा पर्याय, २८. आयुष्य, २९. मोक्ष परिवार, ३०. अन्तरकाल, ३१. निर्वाण तिथि, ३२. निर्वाण धाम। विस्तृत जानकारी के लिए पृथक् से इन ३२ स्थानकों का कोष्ठक यन्त्र परिशिष्ट में दिया गया है वहाँ देखें।

स्थानकों का उल्लेख किस ग्रन्थ के आधार से किया गया है ? इसका

कोई उल्लेख नहीं है। तथापि आगम साहित्य, प्रकीर्णक साहित्य, तीर्थकर चरित्र (प्रथमानुयोग), आदि विभिन्न ग्रन्थों में जो स्थानकों सम्बन्धि उल्लेख मिलते हैं उनका यहाँ एकीकरण किया गया हो ऐसा माना जा सकता है।

श्रीशीलाङ्काचार्य (९वीं शती) रचित चउपन्न-महापुरुष-चरियं में शासनदेव, शासनदेवी, पारणा कराने वाले और प्रमुख भक्त आदि का उल्लेख न होने से यह निश्चित है कि यह उससे परवर्ती रचना है।

श्रीशीलाङ्काचार्य रचित चउपन्न-महापुरुष-चरियं और कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य रचित त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र में वर्णित स्थानकों में अन्तर हो सकता है। जैसे - श्री शीलाङ्काचार्य, देवभद्रसूरि और हेमचन्द्राचार्य ने श्रेयांसनाथ का अन्तरकाल ६६,२६००० सागरोपम कम माना है, किन्तु त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र संस्कृत में ६६,२६००० ही माना है किन्तु सम्पादक श्री विजयशीलचन्द्रसूरिजी ने पाठान्तर में ६६,३६००० स्वीकृत किया है। गुजराती और हिन्दी अनुवादों में ६६,३६००० ही देखने में आ रहा है।

श्रीजिनवल्लभसूरि ने चतुर्विंशति जिन-स्तोत्राणि में केवल छः स्थानकों का ही उल्लेख किया है। परवर्ती काल में स्थानकों का वर्णन क्रमशः बढ़ते हुए १७० तक पहुँच चुका था। श्रीसोमतिलकसूरि द्वारा संवत् १३८७ में रचित सप्ततिशतस्थानप्रकरणम् में १७० स्थानों का वर्णन है।

मुनिराज की पुण्यविजयजी के संग्रह की वर्तमान समय में प्राप्त प्रति में अजितनाथ स्तोत्र से यह वर्णन प्रारम्भ होता है। जबकि आज से ५५ वर्ष पूर्व जिस प्रति के आधार से प्रतिलिपि की थी उसमें ऋषभदेव वर्णनात्मक ८ गाथाएँ भी थी। यह कृति अद्यावधि अप्रकाशित थी। अतः पाठकगण इसका रसास्वादन करें, इसी दृष्टि से प्रस्तुत है।

सिरि रिसहणाह-थुत्तं

परिसिद्धिकए सिरिरिसहनाह ! सव्वट्टिसिद्धिमुज्जेउं ।
 अवइन्नोसि अउज्झं कसिणं चउत्थीइ आसाढे ॥१॥
 नाहि-मरुदेवि-तणओ जाओ चित्तट्टमीइ बहुलाए ।
 पंच धणुस्सयदेहो कणयपहो तंसि वसहंको ॥२॥

कुमरोसि पुव्वलक्खे वीसं पुहईसरो य तेवड्ढि ।
 कसिणट्टमीइ चित्ते सह चउहिं नरिंदसहसेहिं ॥३॥
 सिद्धत्थवणंमि तुमं छट्टेण विणिग्गओसि वरिसंते ।
 सेयंसाउ तुहासी इक्खुरसो पढमपारणए ॥४॥
 वाससहस्सं अच्चिय छउमत्थो फग्गुणस्स कसिणाए ।
 इक्कारसीइ पत्तो केवलनाणं पुरिमताले ॥५॥
 तुह गणहरा य चुलसी साहु-सहस्सा य साहुणि तिलक्खं ।
 गोमुह-अप्पडिचक्का भरहेसरचक्किणो भत्ता ॥६॥
 दिक्खा य पुव्वलक्खं आउं चुलसीइ पुव्वलक्खाइं ।
 अवसप्पिणि तइयऽए सेसे गुणनवइ पक्खेहिं ॥७॥
 कसिणाइ तेरसीए माहे सह दसहिं मुणिसहस्सेहिं ।
 अट्टावयम्मि निव्वुय ! देहि महं देव ! भद्दाइं ॥८॥



सिरि अजियणाह-थुत्तं

सिरिअजियणाह ! वइसाह-सुद्ध-तेरसि विमुक्कविजयसुहो ।
 लोयहियट्टमवज्झाइ तं पवन्नोसि गब्भदुहं ॥१॥
 भविय जियसत्तु-विजया-तणओ माहट्टमीए सुद्धाए ।
 गयचिंध अद्धपंचम धणुसयतणु कणयसंकास ॥२॥
 कुमरत्ते अट्टारस लक्खा पुव्वाण गमिय रज्जेउ ।
 तेवन्नमंगसहिया माहे सुद्धाइ नवमीए ॥३॥
 सहसंबवणे छट्टेण निग्गओ तंसि नरसहस्सजुओ ।
 अत्रादिणे परमत्रं दिण्हं तुह बंभदत्तेण ॥४॥
 बारसवरिसाणंते पोस-सिय-इक्कारसीइ तम्मि वणे ।
 उप्पन्ननाण तुमए पणनवई गणहरा विहिया ॥५॥
 साहू लक्खं अज्जाउ तिन्नि लक्खाइं तीस सहसा य ।
 भत्ता तुह महजक्खो अजियबला सगरचक्की य ॥६॥
 वयमंगूणं लक्खं पुव्वा आउं बिसत्तरी लक्खा ।
 पन्नास अयर कोडी लक्खेसु गएसु उसभाओ ॥७॥

चित्तसिय-पंचमीए सम्मेए तं मुणीण सहसेण ।
सेलेसीमारुहिउं जत्थ गओ तत्थ मन्नेसु(मं नेसु) ॥८॥



सिरि संभवणाह-थुत्तं

सिरिसंभवजिण ! सत्तम ! सत्तम-गेविज्जयाउ सावत्थि ।
फग्गुणसियट्टमीए पत्तोसि सुहाय वसुहाए ॥१॥
जाओ जिआरि-सेणाण सुद्धमग्गसिरचउदसीइं तुमं ।
कणयतुलियंग चउसयधणुतुंग तुरंग-लंछणय ॥२॥
पन्नरस-पुव्वलक्खे कुमरो चउचत्तपुव्वलक्खा य ।
चउरंगाणि य राया भविऊणं मणुय-सहसेण ॥३॥
मग्गसिर-पुन्निमाअे कयच्छट्ठो निग्गओ सहस्संबे ।
बीयदिणे परमत्रं सुरिंददत्ताउ पत्तोसि ॥४॥
चउदस-वरिसंते पंचमीइ कसिणाइ कत्तिए नाणं ।
तम्मि वणे जणिय कयं गणहारिसयं दुरुत्तरयं ॥५॥
लक्खदुगं साहूणं अज्जा छत्तीससहसलक्खतिगं ।
नाह ! तुह तिमुह-दुरियारि मित्तसेणा सया भत्ता ॥६॥
पुव्वाण लक्खमेगं चउरंगूणं तवेण खविऊणं ।
अजियजिणाओ सागर-कोडी-लक्खाण-तीसाए ॥७॥
चित्तसियपंचमीए तं निट्ठिय सट्ठि-लक्ख-पुव्वाउं ।
संजयसहस-समेयं-सम्मेए निव्वुयं वंदे ॥८॥



सिरि अभिणंदणणाह-थुत्तं

सरिमो सिरिअभिणंदणजिणिंद ! वइसाहसियचउत्थीए ।
जय नाह ! जयंताउ तुज्झ अवज्झाइ अवयरणं ॥१॥
संवर-सिद्धत्थाणं कणयपहो माह-सुद्धबीयाए ।
अद्ध-चउत्थ-धणुस्सयतणु वानरचिध जाओसि ॥२॥

अद्धत्तेरसकुमरोसि पुव्व-लक्खाइं सड्ढुत्तीसं ।
 अट्टंगाणि य राया माहे सिय-बारसीइ तुमं ॥३॥
 छट्टेण गहियदिक्खो सहसंबवणे नरिंदसहसेणं ।
 पत्तो पायसमसणं बीयदिणे इंददत्ताओ ॥४॥
 अट्टारस-वरिसेहिं सिय-पोस-चउदसीइ तम्मि वणे ।
 जायं नाणं तह सोलसोत्तरं गणहराण सयं ॥५॥
 मुणि लक्ख-तिगं अज्जाण तीससहसाहियं तु छल्लक्खं ।
 जक्खेसर-कालीओ तुह भत्ता मित्तविरिओ य ॥६॥
 गय-पुव्व-लक्खं अट्टंगूणं ठिओसि सामन्ने ।
 संभवनाहाउ गएसु अयर-दसकोडि-लक्खेसु ॥७॥
 पन्नास-पुव्व लक्खे जीविय सियअट्टमीइ वइसाहे ।
 मुणि-सहसजुयं सिद्धं तुमं नमंसांमि सम्मेए ॥८॥



सिरि सुमइणाह-थुत्तं

पणमामि सुमइसामिय ! कामिय वसुहोवयारभ(म?)वयारं ।
 सावण-सिय-बीयाए जयंतओ तुह अवज्झाए ॥१॥
 तं मेह-मंगलाणं वइसाह-सियट्टमीइ जाओसि ।
 अइजच्च-कंचणनिभो तिसय-धणुच्चो सकुंचो य ॥२॥
 कुमरोसि पुव्वलक्खे दस नरनाहो य बारसंगजुयं ।
 इगुणत्तीसं वइसाह-सुद्ध-नवमीइ सहसंबे ॥३॥
 कयनिच्चभत्त नर-सहससंगओ निग्गओसि बीयदिणे ।
 पउमाउ पत्तपायस वासा वीसं ठिओ छउमे ॥४॥
 तम्मि वणे वरनाणं चित्त-सिय-इक्कारसीइ पत्तोसि ।
 गणहरसयं मुणीणं लक्ख-तिगं वीससहसजुयं ॥५॥
 अज्जाण पंच-लक्खं तीस-सहस्साहियं तए विहियं ।
 तुह भत्तिपरा तुंबुरु-महयाली सव्वविरियनिवा ॥६॥
 लक्खा अ बारसंगं घुट्टाण वयं तु चत्तलक्खाइं ।
 अभिनंदणाउ जिणओ नवसागरकोडि-लक्खेहिं ॥७॥

साहुसहस्सेण समं सम्मेए चित्त-सुद्ध-नवमीए ।
पत्तोसि सुहमणंतं तं देसु ममावि किमऽजुत्तं ॥८॥



सिरि पउमप्पहणाह-थुत्तं

सिरिपउमप्पह ! पुहइं पहासिउं माह-बहुलछट्टीए ।
सव्वुवरिम-गेविज्जा तुमं पवन्नोसि कोसंबि ॥१॥
जाओसि धर-सुसीमाण कत्तिए बहुल-बारसीइ तुमं ।
अड्डाइज्ज-धणुस्सयपमाण कमलंक रत्तंगं ॥२॥
अद्धट्टमा कुमारो लक्खा पुव्वाण सड्डइगवीसं ।
सोलस अंगा यतियो सह निव-सहसेण सहसंबे ॥३॥
छट्टेण विणिक्खंतो पहु कत्तिय-कसिण-तेरसीइ तुमं ।
परमन्नं च पवन्नो बीयदिणे सोमदेवाउ ॥४॥
छम्मासंते नाणं तम्मि वणे चित्त-पुन्निमाए तए ।
लद्धुण कयं गणहर-सत्तहियसयं मुणीणं तु ॥५॥
तीस सहस्स-तिलक्खं अज्जाणं वीस सहस चउलक्खं ।
तुह सामि सेवगा कुसुम-अच्चुया अजियसेण-निवा ॥६॥
तुह वयमसोलसंगं लक्खं पुव्वाण तीस लक्खाऊ ।
सुमइ-जिणाणंतरमयर कोडि-नवई सहस्सेहिं ॥७॥
सम्मेए चउवीसहिंएहिं तिहिं सएहिं समं ।
मग्गसिर-कसिण-इक्कारसीइ निव्वुय नमो तुज्झ ॥८॥



सिरि सुपासणाह-थुत्तं

तिहुयणसिरिवास-सुपाससामि ! कसिणट्टमीइ भद्वए ।
मज्झिम उवरिमओ तुह चरणं भवियाण कुणउ सुहं ॥१॥
वाणारसीइ सिय-बारसीइ जिट्टे पइट्ट-पुहइ-सुओ ।
दुसय-धणू सियवर-सत्थियंक कणयप्पहो तेसिं ॥२॥

पुव्वाण पंच लक्खा वीसंगजुयं च लक्ख चउदसगं ।
 कुमर-नरनाहभावं अणुभविय नरिंद-सहसजुओ ॥३॥
 सहसंबवणे कयछट्टु जिट्टु-सिय-तेरसीइ नीहरिओ ।
 जिणचंद महिंदाओ बीयदिणे पायसं पत्तो ॥४॥
 मासेहिं नवहि फग्गुण-सामलछट्टीइ तम्मि उज्जाणे ।
 नाणं लद्धूण कया पण-नवई गणहरा तुमए ॥५॥
 साहूण तिन्नि लक्खा अज्जा चउ लक्ख तीस सहसा य ।
 तुह भत्ता मायंगो संता तह दाणविरिओ य ॥६॥
 पुव्वाणमवीसंगं लक्खं वयमाउ लक्ख वीसं च ।
 पउमप्पहनाहाओ नव सागरकोडिसहसेहिं ॥७॥
 कसिणए फग्गुण-सत्तमीइ पंचहिं सएहिं साहूणं ।
 सम्मेयम्मि सिवं गय सिवगइं देहि मह नाह ! ॥८॥



सिरि चंदप्पहणाह-शुत्तं

चंदप्पह ! पुहइम्मिं मज्जंतिं तममुहंमि उद्धरिउं ।
 तुह बहुल-चित्तपंचमि परिवज्जियवेजयंत नमो ॥१॥
 चंदपुरीइ महायस ! पोसासिय-बारसीइ जाओसि ।
 महसेण-लक्खमाणं चंदको चंदधवलोर्यं ॥२॥
 तं सड्डुसयधणूसिय कुमरो पुव्वाण सड्डुलक्खदुगं ।
 राया सड्डुलक्खे चउवीसंगा य कयछट्टो ॥३॥
 नरसहसजुओ तं पोस-कसिण-तेरसि पवन्नसामन्नो ।
 सहसंबे पत्तो सोमदत्त परमन्नमन्नदिणे ॥४॥
 मासतिगंते कसिणाइ फग्गुणे सत्तमीइ तम्मि वणे ।
 घाइचउक्कविमुक्केण तेणवइ गणहरा विहिया ॥५॥
 साहू सड्डुदुलक्खा अज्जाउ असीइसहसलक्खतिगं ।
 भत्तिरओ तुह विजओ भिउडी मघवं च महिनाहो ॥६॥
 लक्खमचउवीसंगं कयवय दस पुव्व लक्ख सव्वाउं ।
 सागरकोडिसएहिं नवहिं गएहिं सुपासाओ ॥७॥

भद्रवय-कसिण-सत्तमि निम्महियाऽसेसकम्म सम्मेए ।
मुणिसहसजुओ तं निव्वुओसि मम निव्वुयं कुणसु ॥८॥



सिरि सुविहिणाह-थुत्तं

सिरिसुविहिनाह ! मह देहि वंछियं वंछियाइं पूरेउं ।
चविओसि आणयाओ तं फग्गुण-कसिण-नवमीए ॥१॥
कायंदीए रामा-सुग्गीवाणं सुओसि मयरंको ।
मग्गसिर-पंचमीए कसिणाए चंद-गोरंगो ॥२॥
धणुसयपमाण कुमरत्तणम्मि पन्नास पुव्वसहसाइं ।
रज्जम्मि गमिय तिच्चिय अट्टावीसंग-सहियाइं ॥३॥
सहसंबवणे छट्टेण निग्गओ मग्ग-बहुल-छट्टीए ।
नरसहसजुओ पुस्साओ पायसं परदिणे पत्तो ॥४॥
चउवासे तं कत्तिय-सिय-तइयाए तहिं वणे नाणं ।
लद्धूण गणहराणं अट्टासीई तए ठविया ॥५॥
दो लक्खा साहूणं लक्खं अज्जाण वीस सहसा य ।
तुह भत्तिरया अजिओ सुतारया जुद्धविरिओ य ॥६॥
वयमडवीसंगूणं लक्खं पुव्वाण लक्ख-दुगमाउं ।
चंदप्पहाओ सागरकोडीण गयाइ नवईए ॥७॥
भद्रवय-सुद्ध-नवमी समणसहस्सेण तंसि सम्मेए ।
पत्तो ठाणमणंतं ममावि वासं तहिं देहि ॥८॥



सिरि सीयलणाह-थुत्तं

सीयलनाह ! महीअलंमि णमो संताववज्जियं काउं ।
वइसाह-कसिण-छट्टीइ पाणयाओवइन्नोसि ॥१॥
भद्विलपुरंमि दढरह-नंदाणं माहबारसीइ तुमं ।
कसिणाइ कणयवन्नो उप्पन्नो नवइ-धणुमाणो ॥२॥

सिरिक्छलंछण तुमं कुमरो पणुवीस पुव्व-सहसाइं ।
दुगुणाइं निवो छट्टाउ मणुय-सहसेण सहसंबे ॥३॥
नीहरिओ जम्म-तिहीइ परदिणे पायसं पुणव्वसुणा ।
दिन्नं वास-तिगंते पोससिय-चउदसीइ दिणे ॥४॥
तम्मि वणे वरनाणं तुहासि इगसीइ गणहराणं च ।
साहूण सयसहस्सं अज्जालक्खं तु छहि अहियं ॥५॥
तुह पहुभत्ता बंभोऽसोया सीमंधरो य धरणीसो ।
पणुवीस-पुव्व-सहसा वयमाउं पुव्वलक्खं तु ॥६॥
सिरि सुविहिजिणिदाओ गयम्मि नवगम्मि अयर-कोडीणं ।
वइसाह-बहुल-बीयाइ साहुसहसेण सम्मेए ॥७॥
नाणेहिं तिहिवि चउहि वि पंचहि वि जं न पत्तपुव्वं तु ।
तक्कालि च्चिय तं अक्खरपयं पत्त तुज्ज नमो ॥८॥



सिरि सेयंसणाह-थुत्तं

तिहुयणलच्छीकन्नावयंस-सेयंस ! तंसि अच्चुयओ ।
सीहपुरे अवइणो बहुलाए जिट्ट-छट्टीए ॥१॥
जाओसि विणहु-विणहूण बारसीइ कसिणाए ।
गंडयमंडिय तं कणयसच्छहो असीइधणुमाणो ॥२॥
इगवीसवासलक्खे कुमरो दुगुणाइं ताइं कयरज्जो ।
छट्टेणं फग्गुण-तेरसीइ-कसिणाइ सहसंबे ॥३॥
नर-सहसजुओ नीहरिय परदिणे नंदपायसं पत्तो ।
वासेहि दोहि मासे अमावसाए वणे तत्थ ॥४॥
जायं नाणं गणहर छहत्तरी साहुसहस चुलसी य ।
अज्जा तिसहस्साहिय लक्खं तुह ईसरो भत्ती ॥५॥
तह माणसी तिविट्ट हरी य इगवीस-वास-लक्खाइं ।
तुह वयमाउं चउगुण-मणंतरं सीयलजिणाओ ॥६॥
छव्वीस सहस्साहिय छावट्टी-वासलक्ख-सहिण्ण ।
सागरसएण ऊणाइ अयरकोडीओ गमियायो ॥७॥

सम्मेष कसिणाए सावण तइयाए समणसहसजुओ ।
तंसि गओ लोयगं हत्थालंबं ममं देसु ॥८॥



सिरि वासुपुज्जणाह-थुत्तं

सिरिवासुपुज्ज ! उज्जोइउं जयं जिट्ठ-सुद्ध-नवमीए ।
तं पाणयकप्पाओ चविउं चंपाइ संपत्तो ॥१॥
जाओ वसुपुज्ज-जयाण फग्गुणे कसिण-चउदसीइ तुमं ।
महिसंक-रत्तवन्नो सत्तरिधणुमाण गयमाण ॥२॥
अट्टारसयसहस्सा वासा कुमरोसि तं चउत्थेणं ।
फग्गुण-अमावसाए विहारगेहम्मि नीहरिओ ॥३॥
छ्हिं निवसएहि सहिओ बीयदिणे पायसं सुनंदाओ ।
पत्तोसि वासमेगं छउमत्थो विहरिओ नाह ! ॥४॥
माहे सिय-बीयाए विहारगेहम्मि पत्तनाणेणं ।
छावट्ठी लोयहिया विहिया गणहारिणा तुमए ॥५॥
बावत्तरी सहस्सा मुणीण अज्जाउ लक्खमेगं तु ।
तुह भत्ता य कुमारो पयंड-देवी दुविट्ठु हरी ॥६॥
चउपन्न-वास-लक्खो वयम्मि बावत्तरी तुह(हा)उम्मि ।
चउपन्न सागरेहिं गर्हं सेयंस-नाहाओ ॥७॥
छ्हिं साहुसएहिं समं आसाढ-चउदसीइ सुद्धाए ।
चंपाइ तंसि संपत्तसिवसुहो सिवसुहं देसु ॥८॥



सिरि विमलणाह-थुत्तं

विमलजिणिंद ! सुरिंदेहिं तंसि महिओ महीइ इंतो वि ।
वइसाह-सुद्ध-बारसि विमुक्कसहसार गुणसार ॥१॥
कंपिल्लपुरे जाओ नाह ! तुमं माह-सुद्ध-तइयाए ।
सामा-कयवम्म-सुओ सट्ठिधणुच्चो वराहजुओ ॥२॥

तवियम(त?)वणिज्जगोरो कुमार-वासम्मि वास-लक्खाइं ।
 पनरस रज्जम्मि य दुगुणियाइं गमिऊण छट्टेणं ॥३॥
 माह-सिय सहस्संबे माह-सिय-चउत्थि गहियसामन्नो ।
 नर-सहसजुओ जय-पायसं च पत्तोसि बीयदिणे ॥४॥
 वास-दुगंते फुरिया नाणसिरी पोस-सुद्ध-छट्टीए ।
 तम्मि वणे गणहारी सत्तावन्ना तए विहिया ॥५॥
 अडसट्टी मुणि सहसा अज्जाउ लक्ख-मट्टुसयसहियं ।
 तुह देव ! सेवगा पुण छम्मुह विइया सयंभु हरी ॥६॥
 पन्नरस वासलक्खा तुब्भ वयं सट्टिमेव सव्वाऊ ।
 तीसाइ सागरेहिं गएहिं जिण वासुपुज्जाओ ॥७॥
 आसाढ-कसिण-सत्तमि समत्तनीसेसकम्मनिम्महण ।
 छहिं मुणिसहसेहिं समं सम्मेए निव्वुय नमो ते ॥८॥



सिरि अणंतणाह-थुत्तं

जिणनाह ! अणंतमणंतराउ भवियाण मोहमवणेउं ।
 कसिणाए सावण-सत्तमीइ तं पाणयाउ चुओ ॥१॥
 जाओसि अउज्जाए सेणंको सीहसेण-सुजसाण ।
 वइसाह-तेरसीए कसिणाइ सुवन्नवन्न तुमं ॥२॥
 पन्नासधणुसरीरो वासाणऽद्धट्टमा सय-सहस्सा ।
 कुमरो निवो य दुगुणा मणुय-सहस्सेण सहसंबे ॥३॥
 कयछट्टो कसिणाए वइसाह-चउदसीइ गहियवओ ।
 विजयाओ परमन्नं अन्नंमि दिणंमि पत्तोसि ॥४॥
 वासतिगंते संजम-तिहीइ पत्तं तहिं वणे नाणं ।
 तुह गणहर पन्नासा कमेण मुणि साहुणी सहसा ॥५॥
 छावट्टी छावट्टी भत्ता पायाल-अंकुसाउ तहा ।
 पुरिसुत्तमो हरी वयमद्धट्टमवासलक्खाइं ॥६॥
 वासाण तीस लक्खा सव्वाउं विमलजिणवरिंदाओ ।
 सागरनवगम्मि गए सह सत्तहिं मुणिसहस्सेहिं ॥७॥

चित्त-सिय-पंचमीए कम्मणमोरालियं च सम्मेए ।
मुत्तूण तणुं तणुवज्जियपयं पत्त तुज्झ नमो ॥८॥



सिरि धम्मणाह-थुत्तं

सिरिधम्मनाह ! धम्मम्मि ठाविउं भवियजणमिणं विजया ।
वइसाह-सुद्ध-सत्तमि कयगब्भवयार तं नमिमो ॥१॥
ते भाणु-सुव्वयाणं रयणपुरे माह-सुद्ध-तइयाए ।
वज्जंक कंचणप्पह पणचत्तधणुच्च जाओसि ॥२॥
अड्डाइज्जा पंचम कुमरो य निवो य वास सयसहसा ।
माह-सिय-तेरसीए कयछट्टो वप्पगाइ तुमं ॥३॥
सहसेण निवाण विणिग्गउसि गहिरुण धम्मसीहाओ ।
परमन्नमन्नदियहे वासदुगं गमिय-छउमत्थो ॥४॥
पत्तोसि वप्पगाए वरनाणं पोस-पुत्तिमाइ तुमं ।
तुह गणहरा तिचत्ता मुणिणो चउसट्टिसहसा य ॥५॥
अज्जाउ चउसयाहिय बिसट्टि सहसा य निट्टियकसाया ।
भत्तिपरा तुह किन्नर-पन्नत्ती पुरिससीह हरी ॥६॥
अड्डाइज्जा लक्खा वासाण वयं दसेव सव्वाऊ ।
अंतरमणंतजिणओ जणिउं सागरचउक्केण ॥७॥
जिट्टिसिय-पंचमीए अट्टुत्तरमुणिसएण सम्मेए ।
होउमजोगी पत्तोसि जं पयं तं पयं देसु ॥८॥



सिरि संतिणाह-थुत्तं

सिरिसंतिनाह ! सव्वोवसग्गनिग्गहकएण पुहईए ।
भद्वय-कसिण-सत्तमि सव्वट्टुचुयं नमामि तुमं ॥१॥
जाओसि गयउरे विस्ससेण - अइराण चत्तधणुमाणो ।
हरिणंक कणयलद्धो जिट्टासियतेरसीइ तुमं ॥२॥

पणुवीसवाससहसा कुमार-मंडलिय-चक्रवट्टिपए ।
 पत्तेयं भविय तुमं नरिंद-सहसेण सहसंबे ॥३॥
 कयच्छट्टो जिट्ट-चउदसीइ कसिण्ण(णा?)इ विरइमणुरत्तो ।
 पत्तोसि सुमित्ताओ परमन्नमणंतरम्मि दिणे ॥४॥
 वासंते तम्मि वणे लद्धुणं सुद्ध-पोस-नवमीए ।
 नाणवरं वरसीसा छत्तीसा गणहरा विहिया ॥५॥
 मुणिणो बिसट्टिसहसा अज्जा इगसट्टिसहस-छसया य ।
 गरुडो निव्वाणी तुह भत्ता कोणालयो य निवो ॥६॥
 वाससहस्साणि वयं पणुवीसं वासलक्खमाउं च ।
 पाऊण पल्लरहिए गयम्मि धम्माउ अयरतिगे ॥७॥
 नवसाहुसएहिं समं जिट्टासिय-तेरसीइ सम्मेए ।
 मुत्तुं मुत्तिमसारं सारं पत्तोसि तुज्झ नमो ॥८॥



सिरि कुंथुणाह-थुत्तं

सिरिकुंथुनाह ! थुणिमो परमत्थ-परोवयार-करणत्थं ।
 सव्वट्टाओ चवणं तुह सावण-कसिण-नवमीए ॥१॥
 नागपुरे सूर-सिरीण कसिण-वइसाह-चउदसीइ तुमं ।
 छगलंछण कणयप्पह पणतीसधणुच्च जाओसि ॥२॥
 कुमरो तह मंडलिओ चक्कीवि य भविय वास-सहसाइं ।
 पाओण-चउव्वीसं पत्तेयं नरसहस्सजुओ ॥३॥
 छट्टेण कसिण-वइसाह-पंचमी चरिय चरिय सहसंबे ।
 बीयदिणम्मि पवन्नो परमन्नं वग्घसीहाओ ॥४॥
 सोलसवरिसेहिं तहिं उज्जाणे चित्त-सुद्ध-तइयाए ।
 हय-घाइकम्म तुमए पणतीसं गणहरा विहिया ॥५॥
 साहू सट्टि-सहस्सा अज्जाओ सट्टि-सहस छसया य ।
 तुह नाह विहियसेवा गंधव्व-बला कुबेरनिवो ॥६॥
 पाऊण चउवीसं पणनवईं चेव वास-सहसाइं ।
 तुह वयमाउं च गए सिरिसंतिजिणाउ पलियद्धे ॥७॥

वइसाह-पडिवयाए सिणाए दसहिं मुणिसएहिं समं ।
सम्मयेमि विमुक्कोसि सेसकम्मेहिं देहि सुहं ॥८॥



सिरि अरणाह-थुत्तं

सिरिअरणाह ! नमो ते भवियाणमणुग्गहिकबुद्धीए ।
फग्गुण-सिय-बीयाए सव्वट्ठाओ चुओ तंसि ॥१॥
नागपुरंमि सुदंसण-देवीणं मग्ग-सुद्ध-दसमीए ।
तीसधणूसिय जाओसि नंदवत्तंक कणयपहो ॥२॥
इगवीस-वास-सहसा पत्तेयं कुमर-मंडलिय-चक्की ।
मग्गसिर-सेय-इक्कारसीइ छट्टेण सहसंबे ॥३॥
नर-सहसेण गिहाओ नीहरिओ परदिणंमि परमन्नं ।
अवराइयाउ पत्तो अह तिहिं वरिसेहिं तम्मि वणे ॥४॥
नाणं कत्तिय-सिय-बारसीइ आसाइउं तए विहिया ।
गणहारी तेत्तीसा साहू पत्राससहसा य ॥५॥
अज्जाण सट्ठि-सहसा भत्ता जक्खिद-धारिणि-सुभूमा ।
इगवीसवाससहसा तुह वयमाउं तु चुलसीई ॥६॥
पलिओवमचउभागे रहिए वासाण कोडिसहसेणं ।
कुंथुजिणाउ गयम्मी सम्मेए मुणि-सहस्सेण ॥७॥
जम्म-तिहीए कम्मक्खएण संसारउवि नीहरिउ ।
अपुणागमं पयंगम पसीय दंसेसु अप्पाणं ॥८॥



सिरि मल्लिणाह-थुत्तं

सिरिमल्लिणाह ! मिहिलं मोहवसं बोहिउं जयंताओ ।
फग्गुण-सुद्ध-चउत्थीइ इत्थिरूवोऽवइन्नोसि ॥१॥
मग्गसिर-सुद्ध-इक्कारसीइ कुंभ-प्पभावरिण तुमं ।
कलसंक नीलवन्नो पणुवीसधणूसिओ जाओ ॥२॥
कुमरोसि वच्छरसयं कुमार अट्टमेण सहसंबे ।
जम्मतिहीए तिहिं तिहिं नरसएहिं नीहरिओ ॥३॥

तम्मि दिणे अवरण्हे नाणं पत्तोसि तम्मि चेव वणे ।
जायं पायसमसणं बीयदिणे विस्ससेणाओ ॥४॥
गणहर अट्टावीसा कमसो तुह साहुणी सहसा ।
चालीसा पणपन्ना भत्ता य कुबेर-वइरोट्टा ॥५॥
तह अजिओ नरनाहो तुहाउ पणपन्नवाससहसाइं ।
सयहीणाइं तु वयं गयम्मि अरजिणवरिंदाओ ॥६॥
वासाण कोडिसहसो सम्मेए पंचपंचहि सहे(ए)हिं ।
साहूण साहुणीणं फग्गुण-सिय-बारसीइ तुमं ॥७॥
उत्तरिय दुत्तराओ अणाइभवपंकओ दुरवयारे ।
निम्मग्गोऽणंतपए अणंतविरिओसि तुज्झ नमो ॥८॥



सिरि मुणिसुव्वयणाह-थुत्तं

सिरिमुणिसुव्वय ! अवराइयाउ अवराइयं पयं पत्तं ।
पुन्नावण सावणपुन्निमाइ उइन्न तुज्झ नमो ॥१॥
रायगिहे सामंगो सुमित्त-पउमावईण जाओसि ।
जिट्टुबहुलट्टमीए कुम्मंको वीसधणुमाणो ॥२॥
अद्धट्टमाइं कुमरो वास-सहस्साइं पनरस-नरिंदो ।
होउं नरसहसजुओ नीलगुहाए विहियछट्टो ॥३॥
सुद्धाए फग्गुण-बारसीइ नीहरिय परदिणे पत्तो ।
तं बंभदत्तपायसमह पक्खूणे गए वरिसे ॥४॥
तम्मि वणे फग्गुण-बारसीइ बहुलाइ लद्ध-नाणस्स ।
अट्टारस गणहारी तुहसि मुणि तीस-सहसा य ॥५॥
पन्नास सहस्सा साहुणीण भत्ता य वरुण-नरदत्ता ।
विजयनिवोवि य तुह वयमद्धट्टमवाससहसाइं ॥६॥
तीसं साउं चउपन्न-वास-लक्खेहिं मल्लिनाहाओ ।
जिट्टु-सिय-नवमीए सम्मेए समण-सहसेणं ॥७॥
भववाडियाइ चउगइचउरं काउं तुमं सभत्तीए ।
पत्तो सिद्धिं मह पहु ! पहुत्तसरिसं फलं देसु ॥८॥



सिरि नमिणाह-थुत्तं

नमिनाह ! नमामि तुमं कयत्थमप्पाणयं विहेउमणो ।
 तं पाणयाओ मिहिलं आसोए पुन्निमाइ गओ ॥१॥
 जाओसि विजय-वप्पाण सावण-कसिण-अट्टमीइ तुमं ।
 पन्नरसधणूसिय उप्पलंक तवणिज्जरमणिज्ज ॥२॥
 अट्टाइज्जा कुमरो वास-सहसा य पंचनरनाहो ।
 होउं सहसंबवणे नर-सहसेणं विहियछट्टो ॥३॥
 आसाढकसिण-नवमीइ निग्गओ परदिणम्मि पत्तोसि ।
 परमन्नं दिन्नाओ अह नवमासेहिं तम्मि वणे ॥४॥
 मग्गसिरसि इक्कारसि हयनाणावरण गणहरा जाया ।
 सत्तदस साहु-साहुणिसहसा वीसेगचत्ता य ॥५॥
 भिउडी गंधारी वि य भत्ता हरिसेण चक्कवट्टी य ।
 तुह वयमट्टाइज्जा वाससहस्सा दसाउं च ॥६॥
 छसु वच्छलक्खेसु गएसु मुणिसुव्वयाउ सम्मेए ।
 वइसाह-कसिण-दसमीइ सह सहस्सेण साहूणं ॥७॥
 सम्मत्ताइगुणेहिं लद्धं तित्थयरनाममइदुलहं ।
 मुत्तूण तंपि पत्तोसि मुखसोक्खं नमो तुज्झ ॥८॥



सिरि णेमिणाह-थुत्तं

सिरिनेमिणाह ! मोहेण भुवणमवराइयं तुमं काउं ।
 बहुलाए कत्तिय-बारसीइ अवराइयाउ भुओ ॥१॥
 जाओसि सिवादेवी-समुद्धविजयाण सोरियपुरम्मि ।
 सामंग दसधणूसिय सावण-सिय-पंचमीइ तुमं ॥२॥
 संखंक कुमारोच्चिय कुमरत्ते गमिय तिन्नि वाससए ।
 सावण-सिय-छट्टीए छट्टेणुज्जितगिरिसिहरे ॥३॥

नरवइ-सहसेण समं नीसामन्नं गहेवि सामन्नं ।
 वरदिन्नाउ पवन्नो तुमंसि परमन्नमन्नदिणे ॥४॥
 चउपन्नदिणाणंते आसोय-अमावसाइ उज्जिते ।
 निम्महियमोह विहिया एक्कारस्स गणहरा तुमए ॥५॥
 अट्टारस्स तह चत्ता सहसा साहूण साहुणीणं च ।
 भत्ता तुह गोमेहो अंबा कण्हो हरी तह य ॥६॥
 सत्त सया वासाणं वयमाउं दस सयाउ नमिजिणओ ।
 पणवच्छरलक्खंते आसाढ-सियट्टमीइ तुमं ॥७॥
 पंचहि साहु-सएहिं सह छत्तीसाहिएहिं उज्जंते ।
 पत्तोसि पंचमगइं मह पहुं तं चिय गई एक्का ॥८॥



सिरि पासणाह-थुत्तं

सिरिपासनाह ! पसरियमहंतमोहं मणुग्गहिउं(?) ।
 तं पाणयाउ चविओ चित्त-चउत्थीइ कसिणाए ॥१॥
 वाणारसीइ तं अस्ससेण-वम्माण पोसदसमीए ।
 कसिणाइ नीलवन्नो फणिरायविराइओ जाओ ॥२॥
 नवहत्थपमाण तुमं तीसं वासाइं वसिय कुमरत्ते ।
 अट्टमत्तवेण आसमपयम्मि तिहिं नर-सएहिं समं ॥३॥
 कसिणाइ पोस-इक्कारसीइ सामन्नमुत्तमं पत्तो ।
 बीयदिणे तुह दिन्नं परमन्नं नाह ! धन्नेण ॥४॥
 चुलसी-दिणेहिं चित्ते कसिण-चउत्थीइ आसमपयम्मि ।
 उल्लसिय-केवलेणं तुमए दस गणहरा विहिया ॥५॥
 सोलस तह अडतीसा सहसा मुणि-साहुणीण तुह भत्ता ।
 पास-पउमावईउ पसेणई चेव नरंनाहो ॥६॥
 सत्तरि-वासाइं वयं वाससयं आउ नेमिनाहाओ ।
 अद्धट्टमसय-समहिय-तेसीइं वाससहसेहि ॥७॥
 मुणितेत्तीसाय समं सावण-सिय-अट्टमीइ सम्मेए ।
 सिद्धोसि हरसु मोहं मह जह पेच्छामि सामि ! तुमं ॥८॥



सिर वड्डमाण-थुत्तं

सिरिवड्डमाणजिण ! पाणयाउ आसाढ-सुद्ध-छट्टीए ।
 भुवणमिणं बोहेउं कुण्डगगामं तुमं पत्तो ॥१॥
 तिसला-सिद्धत्थाणं चित्ते सिय-तेरसीइ सीहंको ।
 तं सत्तहत्थकाओ जाओ चामीयरच्छाओ ॥२॥
 कुमरोसि वास-तीसं कय-छट्टो मग्ग-कसिण-दसमीए ।
 नीहरिय नायसंडे एगो परमन्नमन्नदिणे ॥३॥
 पत्तो बहुलाउ गए पक्खाहियसड्ड-वासबारसगे ।
 उजुवालियाइ तीरे नईइ वइसाहदसमीए ॥४॥
 सुद्धाइ लद्धकेवल एकारस गणहरा तए विहिया ।
 चउदस तह छत्तीसा सहसा मुणि-अज्जियाणं च ॥५॥
 मायंगजक्ख सिद्धाइयाओ सेणियनिवो य तुह भत्ता ।
 वासा बायालीसं दिक्खा बावत्तरी आउं ॥६॥
 अड्डाइज्जसएहिं गएहिं वासाण पासनाहाओ ।
 अवसप्पिणीइ गुणनवइपक्खसेसे चउत्थरए ॥७॥
 निव्वाणो कत्तियमावसाइ एगोसि तं अपावाए ।
 पयडसि जयदीव जयं जह तह कुरु देवभद्दाइं ॥८॥



C/o. प्राकृत भारती
 जयपुर

પરિચય

ચલવિચરિતિ ઝિન 32 સ્થાન-કોષ્ટક (પાન ૧)

ક્રમ નંબર	વસ્તુનું નામ	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક	ક્રમ નંબર	કોષ્ટક																										
૧	પ્રભુજી	૨	વિદ્યા	૩	શાસ્ત્ર	૪	કવિ	૫	વિદ્યા	૬	વિદ્યા	૭	વિદ્યા	૮	વિદ્યા	૯	વિદ્યા	૧૦	વિદ્યા	૧૧	વિદ્યા	૧૨	વિદ્યા	૧૩	વિદ્યા	૧૪	વિદ્યા	૧૫	વિદ્યા	૧૬	વિદ્યા	૧૭	વિદ્યા	૧૮	વિદ્યા	૧૯	વિદ્યા	૨૦	વિદ્યા	૨૧	વિદ્યા	૨૨	વિદ્યા	૨૩	વિદ્યા	૨૪	વિદ્યા	૨૫	વિદ્યા	૨૬	વિદ્યા	૨૭	વિદ્યા	૨૮	વિદ્યા	૨૯	વિદ્યા	૩૦	વિદ્યા	૩૧	વિદ્યા	૩૨	વિદ્યા

श्रीनरेन्द्रप्रभसूरि विरचित

सूक्तमाला

अमृत पटेल

कवि श्री नरेन्द्रप्रभसूरि-मलधारीअे 'विवेककलिका अने विवेकपादप नामना बे सूक्तिसंग्रहो-सूक्तसमुच्चयनी रचना' करी छे. तथा अलंकार विषयक 'अलङ्कारमहोदधि' अेमनी ज प्रसिद्ध कृति छे. तथा अप्राप्य 'काकुत्स्थकेलि' पण एमनी कृति कहेवाय छे. प्रस्तुत सूक्तमाला पण एमनी कृति होवानी शक्यता छे. १२१ श्लोकैनी प्रस्तुत कृति अपूर्ण जणाय छे. श्लोकना पूर्वार्धमां उपदेश के नीतिविषयक सूक्तिओ छे अने उत्तरार्धमां - व्यवहारिक डहापण, निमित्त, ज्योतिष वगैरेनी प्रचलित विगतोनी पुष्टि, मोटे भागे दृष्टान्त के अर्थान्तरन्यास अलंकार द्वारा अपाई छे. भाषा प्रसादगुणने कारणे आस्वाद्य छे, अने अनुप्रास पण ह्य छे. जुओ-'राहुराहूयते केन विधोर्वैधुर्यहेतवे ॥९॥ के 'मन्दाकिनीमृदो वन्द्यास्त्रैवेदीवेदिनामपि ॥१७॥ आम तो समग्रकृति ज समग्र पणे लयसौन्दर्यनो अखूट खजानो छे.

आ सूक्तमालानुं संशोधन बे हस्तप्रत उपरथी थयुं छे. बत्रे प्रतो लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अमदावादनां हस्तप्रतभण्डारमां छे.

A - ला. द. भे. सू. १९८८२, पञ्चपाठ, २६ x ११ से.मी. नी साईझमां ६ पत्रो छे. बत्रे हांसियामां लालशाहीथी ऊभी लीटी करेल छे. पत्र मध्यभागे हरताल-चन्द्रक छे. आ प्रतमां १२१ पद्यो छे.

A - ला.द. भे.सू. २६५६५, नंबरनी छे. तेमां २५.५ x ११.३ से.मी. साईझनां ५ पत्रो छे. तेनां लिपिकार मुक्तिसौभाग्यगणि छे. आ प्रतमां १११ पद्यो छे. A - प्रत उपर दृष्टान्तशतक अवचूरि अेवुं नाम लखे छे. अने कर्ता तरीके 'मल० 'नरेन्द्रप्रभसूरि'नो उल्लेख छे. (B प्रतमां आवो कोई उल्लेख नथी). माटे में कृतिकार तरीके नरेन्द्रप्रभसूरिने मान्या छे. छतां कृति अपूर्ण छे. जेने कारणे ग्रन्थकार विषे निर्णय करवो अघरो छे. माटे ज विवेकपादप, विवेककलिका तथा अलङ्कारमहोदधिनां उदाहरणो साथे प्रस्तुत कृति 'सूक्तमाला'नुं कृतिसत्त्व

अने कर्तृत्वसाहचर्यं तपासवुं उचितं छे. सूक्तमालानुं ५मुं 'दधत्यार्तं सुखाकर्तुं' पद्य अलङ्कार महोदधिनां २७४मा उदा० तरीके नौधायेल छे.

- प्रत A नां निम्नलिखित पद्यो प्रत B मां नथी -

११, २४, ७१, ७४, १०२, १०५, १०६, १०७, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५ = कुल १५ पद्यो नथी.

प्रस्तुत कृतिनो उल्लेख श्री मो. र. देसाईनां के श्री ही.र. कापडियानां संस्कृत साहित्यना इतिहासग्रन्थोमां जोवा मळेल नथी.

प्रस्तुत सूक्तमालानां मङ्गल पद्यमां विविध भणितिभिद्भिद् द्वारा, श्लोकमां 'सूक्तमाला'नी रचना करवानी प्रतिज्ञा छे. ते जोतां तेनी प्रशस्ति पण होवी जोईअे, जे नथी, जे कृतिनी असम्पूर्णता सूचवे छे.

A प्रत ने मुख्य राखीने सम्पादन कर्तुं छे. B प्रतनो पाठान्तरमां उपयोग कर्यो छे, छतां योग्य लाग्या तेवा B प्रतना पाठो मूळमां अने A ना पाठो उल्लेख A पूर्वक पाठान्तरमां लीधा छे.

सूक्तमाला अपरनाम दृष्टान्तशतकम्

प्रणिपत्यँ परं ज्योति-र्नानाभणितिभिद्भिद्भिः ।
 श्लोकैरेव यथाशक्ति सूक्तमालां वितन्महे ॥१॥
 कलाकलापसम्पन्ना जल्पन्ति समये परम् ।
 घनागमविपर्यासे केकायन्ते न केकिनः ॥२॥
 उपकर्त्ता स्वतः कश्चिदपकर्त्ता च कश्चन ।
 चैत्रस्तरुषु पत्राणां कर्त्ता हर्ता च फाल्गुनः ॥३॥
 कल्याणमूर्त्तैस्तेजांसि सम्पद्यन्ते विपद्यपि ।
 किं वर्णिका सुर्वणस्य नारोहति हुताशने ॥४॥
 दधत्यार्तं सुखाकर्तुं सन्तः सन्तापमात्मना ।
 सुदुःसहं सहन्ते हि तरवस्तपनाऽऽतपम् ॥५॥
 गुणिनः स्वगुणैरेव सेवनीयाः किमु श्रिया ? ।
 कथं फलार्धिवन्ध्योऽपि नाऽनन्दयति चन्दनः ॥६॥
 नह्येके व्यसनोद्रेकेऽप्याद्रियन्ते विपर्ययम् ।

जहाति दह्यमानोऽपि घनसारो न सौरभम् ॥७॥
 विकारमुपकारोऽपि कुरुते समयं विना ।
 अकालोपस्थिता वृष्टि-र्महारिष्टाय जायते ॥८॥
 निसर्गेणैव पिशुनः स्वजनोच्छेदमिच्छति ।
 राहुराहूयते केन विधोर्वैधुर्यहेतवे ॥९॥
 निजव्यापारनिश्चिन्ता निद्रायन्ते भुजङ्गमाः ।
 जगद्द्रोहप्ररोहाय यतो जागर्ति दुर्जनः ॥१०॥
 दुर्जनः कालकूटश्च ज्ञातमेतौ सहोदरौ ।
 अग्रजन्माऽनुजन्मा वा न विद्यः कतरोऽनयोः ॥११॥
 कर्णौ भोगभृतां मूर्ध्नि साधु नाऽधत्त यद् विधिः ।
 सकर्णकोऽथ कुरुते मर्मवित् कर्म तादृशम् ॥१२॥
 गर्व ! सर्वङ्कषोऽस्मीति गिरं मा स्म वृथा कृथाः ।
 अद्यापि तव जैत्राणि चरित्राणि दुरात्मनाम् ॥१३॥
 समर्थानां समर्थोऽरि-निग्रहाय परिग्रहः ।
 प्रभविष्णुस्तमोऽन्ताय प्रभा प्रातः प्रभापतेः ॥१४॥
 स्वामिन्यस्तं प्रपेदाने सीदत्येव परिच्छदः ।
 भास्वत्यस्तमिते म्लान-कमलाः कमलाकराः ॥१५॥
 चारुणा परिवारेण प्रभुलोके महीयते ।
 महीरुहेषु महितः 'किंकिर्लिर्निजपल्लवैः ॥१६॥
 महिमानं महीयांसं सङ्गः सूते महात्मनाम् ।
 मन्दाकिनीमृदो वन्द्यास्त्रैवेदीवेदिनामपि ॥१७॥
 सदा सर्वजनैर्भोग्यं श्लाघ्यं भवति वैभवम् ।
 सुखषेयं(य-)पयःपूरं वरं कृपात् सरोवरम् ॥१८॥
 लोकम्पृणानपि गुणान् दोषः स्वल्पोऽपि दूषयेत् ।
 अपेया पश्य पीयूष-गर्गरी गरबिन्दुना ॥१९॥
 प्रीणयन्नुपकुर्वाणं कुर्यात् कार्यविचक्षणः ।
 पुष्पन्धि(न्ध)यो न पुष्पाणि दुनोति स्वं धिनोति च ॥२०॥
 क्रूरप्रभोः प्रभुत्वेन जनो जीवन् मृतायते ।
 असन्त इव सन्तोऽपि स्युर्भावास्तिमिरोर्दयात् ॥२१॥

तावत् तेजस्विनस्तेजो यावद् भाग्यमभङ्गुरम् ।
 क्षीणतैलः कियत्कालं दीपो(पको)ऽपि प्रदीप्यते ॥२२॥
 निजमन्दिरमुच्छिन्दन् जायते कोऽपि दुःसुतः ।
 स्वाश्रयं नाशयत्याशु हताशोऽयं हुताशनः ॥२३॥
 औरसः स्नेहमाहात्म्यं किञ्चिदन्यत् प्रवक्ष्यते ।
 सम्पद्यापदि वा सिन्धु-विधुन्तुद(दा)नुरुध्यते ॥२४॥
 उर्पोर्जयति तत् कश्चिद् यत्रैवोपार्जि पूर्वजैः ।
 फलं मधुरमाँस्य न पुनः कुर्मुमादयः ॥२५॥
 मानिनां स्वामिना दत्तं मुदेऽल्पमपि कल्पते ।
 वरं पौरन्दरं वारि बँप्पीह ! पातुमीहसे ॥२६॥
 निर्लक्षणः क्षैणाल्लक्ष्मीमाश्रयस्यापि लुम्पते ।
 पतन् कपोतः कुरुते शाखाशेषं हि शाखिनम् ॥२७॥
 चिरात् फलिष्यतो नेतुर्दूरमुद्विजते जनः ।
 कियत्कालं फलोत्तालस्तालमर्थी निषेवते ॥२८॥
 कामं दूरफल(लः) स्वामी लभते वचनीयताम् ।
 अद्यापि कविभिस्तालः सोपालम्भं निबध्यते ॥२९॥
 प्रभोः संभावनाऽपैति तुच्छमेव प्रयच्छतः ।
 अगादग्रेतनी कीर्तिर्वटस्येदृग् फलोदयः ॥३०॥
 प्रभवेत् परिभोगाय सर्वस्य दिवसो 'निजः' ।
 दीपैरपि पैराल्लक्षैर्न हि दीपोत्सैवो भवेत् ॥३१॥
 सुकृतं सुकृतैर्लभ्यं यत् स्वतः परिपच्यते ।
 पक्वस्य स्वयमाप्रस्य स्वादः कोऽप्यतिरिच्यते ॥३२॥
 सङ्गतिर्यादृशी तादृक् ख्यातिरायाति वस्तुनः ।
 रजनी ज्योत्स्नया ज्योत्स्नी तमसा च तमस्विनी ॥३३॥
 क्लिश्यन्ते केवलं स्थूलाः सुधीः सुफलमश्नुते ।
 ममन्थ मन्दरः सिन्धुं खान्यापुर्दिवौकसः ॥३४॥
 आत्मीयमेव माहात्म्यं कुलं क्वापि न कल्पते ।
 उदन्वदन्वयश्चन्द्रः कालकूटः किमन्वयः ॥३५॥

क्षणादसारं सारं वा वस्तु सूक्ष्मः परीक्ष्य(क्ष)ते ।
 निश्चिनोति मरुत् तूर्णं तूलोच्चय-शिलोच्चयौ ॥३६॥
 न दौःस्थ्येऽपि निजं स्थानं मोक्तव्यमिति मे मतिः ।
 मृगलक्ष्मा पुनर्लक्ष्मीं किं नाऽभ्येति नभःस्थितः ॥३७॥
 लोकरूढिरिह प्रौढिरस्तु वस्तु यथा तथा ।
 दधि मङ्गलधौरैयं न पुरनर्दुग्धमभ्यधुः ॥३८॥
 उत्कर्षश्चापकर्षश्च भृत्यानां भर्तृ^{३५}-कर्तृकौ ।
 दिवसान् दिवसाधीशश्चिनोत्यपचिनोति च ॥३९॥
 आत्मने तेऽभिद्रुह्यन्ति ये द्रुह्यन्ति महात्मने ।
 पश्योलूकमनालोकमसूयन्तं विवस्वते ॥४०॥
 सद्वृत्तैर्महतां पङ्क्तिराप्यते पितुरात्मजैः ।
 मङ्गलेषु समश्चक्रे पत्रैर्यै^{३६}भ्रस्य पिप्पलः ॥४१॥
 धुरि ये मधुरात्मानः पुरतस्तेऽपि निष्फलाः ।
 फले दुर्भक्ष्यमिक्षूणामक्षुण्णं — नेक्ष्यते ॥४२॥
 यस्य लोकोत्तरं सूत्रमापदोऽप्यस्य सम्पदः ।
 शुद्धिमग्नौ निमग्नस्य पश्य कस्याऽपि वाससः ॥४३॥
 सुकृते सर्वतः क्षीणे श्रीरपि क्षीयते क्षणात् ।
 पाथःपूरे कथाशेषे किं नन्दत्यरविन्दिनी ॥४४॥
 विभवाभोगविस्फूर्तिरदृष्टैकनिर्बन्धना ।
 क्षोणीरुहपरीणाहे हेतुमूलस्य सौष्ठवम् ॥४५॥
 अहितेऽभ्युदिते कान्तिं समूलस्यापि नश्यति ।
 छायातरोरपि च्छाया फौ^{३७}ल्गुनेन [वि]नश्यति ॥४६॥
 स्थानोपज्ञं विदुः स्थाने महिमानं मनीषिणः ।
 देवशीर्षेषु शेषेति माल्यं निर्माल्यमन्यथा ॥४७॥
 व्यवसो^{३८}यः प्रणाशाय स्वयै^{३९}मस्थाननिर्मितः ।
 बीजस्याऽपि प्रणाशाय प्रारब्धा कृषिरूपरे ॥४८॥
 तेजस्विनः प्रभोः शत्रूनुच्छिनत्ति परिच्छदः ।
 वैकर्त्तनास्तमोवार्त्ता निशुम्भन्ति गभस्तयः ॥४९॥

लक्ष्मीभवानि तेजांसि जीयन्ते राजतेजसा ।
 कामं धम्मिलपुष्पेभ्यः शिख्रौपुष्पं विशिष्यते ॥५०॥
 साक्षिणी स्यात् पितुः शिक्षा विनीतं तनयं प्रति ।
 जौत्येऽतिभासुरे खले यत्नो वैकटिकस्य कः ॥५१॥
 दुर्भेदमपि भिन्दन्ति हृदयङ्गम-सङ्गमाः ।
 इन्दोः स्पर्शात् श्रवन्त्यम्भो-बिन्दुनिन्दूपला अपि ॥५२॥
 परेषां दुरितं हन्तुं झम्पासम्पातमप्यहो ।
 अग्नौ करोति कोऽप्यत्र सिन्दुवारो निदर्शनम् ॥५३॥
 न ज्ञातेयमुपादेयं गुणैः सम्पद्यते पदम् ।
 खेर्व्यापारमादत्ते प्रदीपो, न पुनः शनिः ॥५४॥
 सर्वेषामप्यपास्यो यः सोऽपि कैश्चिदुपास्यते ।
 प्रसह्य मृज्यतेऽन्यत्र नेत्रयोः पूज्यमञ्जनम् ॥५५॥
 स्त्रीणां दोहदमन्वेति प्रसूतिरिति गीर्मृषा ।
 केतव्यां प्रसवः सोऽय-मलमौलप्य दोहदम् ॥५६॥
 आभ्यागारिकमभ्येति नात्मम्भरिमयं जनः ।
 विहाय वाडवं लोकै-रम्भोधिरधिगम्यताम् ॥५७॥
 जङ्घालत्वं जघन्यानामुन्मार्गेण निसर्गतः ।
 तिमिपोतः प्रतिस्त्रोतः-पथेन पथिकः परम् ॥५८॥
 गुणः प्रत्युत दोषाय ध्रुवं यैः स्यादलौकिकः ।
 गगनं शून्यमित्याहुस्तत्त्वतोऽतिमहत्त्वतः ॥५९॥
 भवेद् भङ्गुरवृत्तस्य न प्रभुत्वमुदित्वरम् ।
 उवाह ग्रहसाम्राज्यं तपनो न पुनः शशी ॥६०॥
 सभासन्निभमात्मानं दर्शयन्ति विशारदाः ।
 युक्तः(क्तं) कूरग्रहैः कूरः सौम्यः सौम्यैः पुनर्बुधः ॥६१॥
 विशीर्यन्ते कदर्यस्य श्रियः पातालपक्त्रिमाः ।
 अगाधमन्धकूपस्य पश्य सैवलितं पयः ॥६२॥
 मितम्पचः प्रपञ्चेन केनचित् कार्यते व्ययम् ।
 पादावर्त्तं विवर्त्तेन कूपादाकृष्यते पयः ॥६३॥

याचते सङ्कुचददृष्टिर्ददाति पुनरुद्धतः ।
 लीनोऽम्बुदः पिबत्यम्बु दत्ते गर्जिभिरूर्जितः ॥६४॥
 गुणान् गुणवतां वेत्तुं विरलाः प्रभविष्णवः ।
 वेत्ति रत्नपरीक्षायां लवमेकं न वल्लवः ॥६५॥
 अस्तिमानस्तु, कः स्तौति वदान्यो न च चेन्नरः ।
 रम्यापि केन रम्येत युवतिर्यदि दुर्भगा ॥६६॥
 अलङ्कारोऽप्यलङ्कर्तुमलं स्थाने नियोजितः ।
 श्रियं तौरैस्त्रजः कण्ठे दधते नतु पादयोः ॥६७॥
 अर्थिनः खलु सेवन्ते सुलभश्रीकमीश्वरम् ।
 पश्य श्रोतस्विनी-श्रोतः सर्वतो रुध्यतेऽध्वगैः ॥६८॥
 अवाप्यते धनं धन्यैर्यशोभिः सुरभीकृतम् ।
 किं तव श्रवणोत्सङ्गमारुरोह न रोहणः ॥६९॥
 तावदर्थक्रियाकारी यावद् द्रव्यमभङ्गुम् ।
 स्वर्णकुम्भस्तु भग्नोऽपि जीवयत्यनुजीविनम् ॥७०॥
 कालोऽपि कलुषः स स्यात् सन्तो यत्राऽऽपुरापदम् ।
 खेरस्तमयो यत्र स प्रदोषः प्रकीर्तितः ॥७१॥
 परोपज्ञैर्मवस्तूनामत्युच्चं पदमापदे ।
 वातेनोन्नतिमानीतः पांशुपूरः पतत्यधः ॥७२॥
 भवेत् प्रभुत्वं पुण्येन न हिरण्येन जातुचित् ।
 अद्रिराजस्तुषाराद्रिर्न पुनः केनकाचलः ॥७३॥
 अविमृश्यातित्यागो[हि] देशत्या[गा]य जायते ।
 तथा दृ(वृ)ष्टं घनैर्नष्टं वियतोपि यथा पुरः ॥७४॥
 श्रीमन्तमुपतिष्ठन्ते नैव निर्धनमर्थिनः ।
 वानस्पत्यान् परित्यज्य सर्वेन्ते केऽवकेशिनः ॥७५॥
 तनुजो मा स्म भूद् यत्र जाते स्यान्मातुरातुरम् ।
 कदल्याः किमभूत् पश्य फलोत्पत्तेरनन्तरम् ॥७६॥
 परोर्लक्षेष्वपत्येषु ख्यातिरेकस्य कस्यचित् ।
 सुबहुष्वम्बुजातेषु शब्दः शङ्खस्य केवलम् ॥७७॥

कार्यक्षमः परोप्याप्तः कृतं पुत्रेण पङ्कना ।
 विभावसुर्वसुन्यासं खेशप्नोति नो शनिः ॥७८॥
 दत्ते विपत्तिमासक्तिः प्रभोरत्युग्रतेजसः ।
 ग्रहमस्तमितं प्राहु-र्गतं मार्त्तण्डमण्डले ॥७९॥
 नाऽऽनयन्ति धनं पत्यौ न कुलीनाः खलु स्त्रियः ।
 स्रवन्त्यो वारिसर्वस्वमर्पयन्ति पयोनिधेः ॥८०॥
 दुर्जातमात्मना जातं पालयन्ति समुन्नताः ।
 न वहन्ति पयोवाहाः किं नामाऽशनिमीदृशम् ॥८१॥
 यतन्ते समये सन्तः कृतार्थीकर्तुर्मर्धिनः ।
 वर्षुकाः किं^{४३}नु वर्षन्ति न वर्षासु पयोमुचः ॥८२॥
 तिरस्कारेपि रज्यन्ति द्विगुणं रागनिर्भराः ।
 रङ्गः पादोपमेदनं किं कुसुम्भस्य नैधते ॥८३॥
 सर्वसहानां वर्धिष्णुरुपकारोऽपकारिषु ।
 अनन्तं दावदातृभ्यः फलन्ति क्षेत्रभूमयः ॥८४॥
 अहो कस्यापि शब्दोऽपि कुटिलानां भयङ्करः ।
 ध्वनिभिः शिखिनां नागाः पलायन्ते दिशोदिशम् ॥८५॥
 दुःसङ्गेनापि नापैति सतां स्वाभाविको गुणः ।
 विषेण सह वास्तव्यो जीवातुः फणिनो मणिः ॥८६॥
 नोन्मूलयति मालिन्यं सदुणोप्यात्मजः पितुः ।
 पङ्केरुहेण पङ्कस्य कालिमा किं विलुप्यते ॥८७॥
 सूर्याचन्द्रमसोः केन राहुराहूयते भृशम् ।
 प्रभुभ्यामपि नैताभ्यां क्षेत्रमस्मै यदर्पितम् ॥८८॥
 एकतानं मनः पापे नीचानामचिराद् भवेत् ।
 ध्यानकोट्यो^{४५} बकोटस्य यान्ति जन्तुजिघांसया ॥८९॥
 आत्मानुपदिकं लोकं कुर्यान्मूर्खोऽपि कश्चन ।
 आत्मानमनु लोहानि भ्रमै^{४६}येद् भ्रमकोपलः ॥९०॥
 मूर्खस्य मुखमीक्षन्ते क्वपि कार्ये विचक्षणाः ।
 विना निकषपाषाणं को वेत्ति स्वर्णवर्णिकाम् ॥९१॥

धैर्यप्रौढिर्दृढस्याऽपि विपद्याऽऽशु विपद्यते ।
 अयःपिण्डोऽपि चण्डाग्नौ निमग्नो द्रवति द्रुतम् ॥९२॥
 कृत्वा स्थूलस्तपस्तीर्थे क्रोधपङ्के निमज्जति ।
 मङ्गलत्वाऽम्भसि गजो गात्रमुद्धूलयति धूलिभिः ॥९३॥
 विभवे विभवभ्रंशे सैव मुद्रा महात्मनाम् ।
 अब्धौ सुरात्तसारेऽपि न मर्यादाविपर्ययः ॥९४॥
 यः प्रमाणीकृतः सद्भिस्तस्याऽन्यत् किं विचार्यते ।
 अतुलेन तुलामेति काञ्चनेन सहोपलः ॥९५॥
 तत्तल्लीलायितैर्बालैः शोभते श्रीमतां गृहम् ।
 क्रीडादुर्ललितैर्भाति कलभैर्वन्ध्यकाननम् ॥९६॥
 मानमर्हति मत्तोऽपि येनाऽऽयत्ता विभूतयः ।
 इभं भोजयते भूपश्चाटुर्कारपरः स्वयम् ॥९७॥
 समुन्नतैः सह स्पर्धा स्वाङ्गभङ्गाय केवलम् ।
 घनार्थोऽसूयतो पश्य हरेर्यत् पर्यवस्यति ॥९८॥
 बलवानर्वजानाति दुर्विनीतं पृथग्जनम् ।
 भषन्तं भषणं पश्य^१ करी किं^२ कलहायते ? ॥९९॥
 दूष्यते येन सर्वोऽपि कश्चित्तेनैव भूष्यते ।
 मदो निन्दास्पदं लोके हस्तिनस्तु^३ विभूषणम् ॥१००॥
 प्रख्यातवंशो यन्नाम्ना पुमान् सैषः क्वचिद् यतः ।
 द्रुमेष्वेकैव सा जम्बूर्जम्बूद्वीपो यदाख्यया ॥१०१॥
 किमौत्रत्यं किमौज्ज्वल्यं कुर्यान्निर्धनता यदि ।
 हित्वा हिमाद्रिं हेमाद्रिमाद्रियन्ते दिवौकसः ॥१०२॥
 केचिद् भवन्त्यपकृत्येऽपि मित्राणां सहकारिणः ।
 सहायः किं न दाहाय दहनस्य समीरणः ॥१०३॥
 दते धूर्तः सतृष्णा[ना]मनर्थेष्वर्थविभ्रमम् ।
 मरौ ग्रीष्मः कुरङ्गाणां पुष्पाति मृगतृष्णिकाम् ॥१०४॥
 कस्यचिन्मृत्युसमये नितरां स्युर्महोदयाः ।
 विध्यास्यतः प्रदीपस्य पश्य वृद्धैर्धिमतीं शिखाम् ॥१०५॥

उपकारोऽपि निर्नाम नाश्यते कृतनाशिभिः ।
 पयोदानां पयोवृष्टेर्ब्रूहि किं कुरुते मरुः ॥१०६॥
 सुखाय मञ्जुलच्छायः प्रभुः प्रागेव किं धनैः ।
 वटो हन्ति श्रमं सद्यः पान्थानां पथि किं फलैः ॥१०७॥
 क्षुद्राणामद्भुता लक्ष्मीर्मृत्योर्लक्ष्मेति निश्चयः ।
 पिपीलिकानामुत्थानं पक्षयोः क्षयहेतवे ॥१०८॥
 तृणाय मन्यते लोकैश्चिरादल्पफलः प्रभुः ।
 फलन् वर्षशतात् तालस्तृणराजस्तदुच्यते ॥१०९॥
 तन्मिथ्या यन्मिथो वैरमेकद्रव्याभिलाषिणः(णाम्) ।
 रसना दशनैः सार्धं सदा संयुज्य कल्पते ॥११०॥
 जनस्य यावती सम्पद् विपत्तिरपि तावती ।
 दृष्टान्तः स्पष्ट एवात्र रजनीजीवितेश्वरः ॥१११॥
 स्वस्थास्तेजस्विनः प्रायस्तिरस्कारेऽपि दुःसहाः(हे) ।
 रविपादाहतो हन्त ज्वलति ज्वलनोपलः ॥११२॥
 दोषवान् स्तूयते यस्तु दानशक्तिर्गरीयसी ।
 गजानां गण्यते केन तादृग् जिह्वाविपर्ययः ॥११३॥
 शुद्धानामुदये शुद्धा वर्धन्ते जातु नेतरे ।
 शुचौ दिनानि चीयन्ते क्षीयन्ते क्षणदाः पुनः ॥११४॥
 हेयोपादेयवैदुष्यं विमलस्यैव दृश्यते ।
 हंसादन्यत्र नो दृष्टं क्षीर-नीरविवेचनम् ॥११५॥
 शक्त्या युक्त्या च संरोद्धुं शक्या नाऽऽकस्मिकी विपत् ।
 कुतोऽप्यागत्य वात्याभिर्दीपो विध्यायते क्षणात् ॥११६॥
 भद्रमाशास्महे तस्मै यः स्यान्मौनी गुणाधिकः ।
 कः किल स्तौति काकोलं वाचालं सति कोकिले ॥११७॥
 त्वमात्मानुप्रविष्टेभ्यः सद्यो दद्यात् समुन्नतिम् ।
 दुनोत्यस्मान् लघून् कुर्वन् दर्पणोप्यर्पितात्मनः ॥११८॥
 किमप्यसाध्यं महतां सिद्धिमेति लघीयसः ।
 प्रदीपो हेमगेहान्तः ध्वान्तं हन्ति न भानुमान् ॥११९॥

विस्तीर्णैरूर्णनाभस्य सर्वदिग्व्यापिभिर्गुणैः ।

अन्तं जन्तुगणो नीतः कियत् क्षुद्रस्य सुन्दरम् ॥१२०॥

भोग्यान् विशिष्यते वस्तु यत् पात्रे न्यस्तमात्मना ।

पयः पीयूषमब्देषु वारिर्धेर्विषमात्मनि ॥१२१॥

टिप्पण

१. विवेकपादप अने विवेककलिकानी खण्डित बे ताडपत्रीय प्रतो (ले.सं. १२८०) पाटण हेमचन्द्राचार्य ज्ञानभण्डारमां छे. - ही. र. कापडिया - जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास खंड-१, संपा. आचार्यश्री मुनिचन्द्रसूरिजी, पृ. १५५.
२. 'आ काकुत्स्थकेलि, बृहट्टिप्पणिका (पुरातत्त्व पुस्तक २जुं पृ. १, ४) मुजब १५०० श्लोक प्रमाण नाटक छे. जेनो ले.सं. १२८० छे. शक्य छे के 'विवेकपादप'नी अने काकुत्स्थकेलिनी लेखन संवत् १२८० ज छे. तो का. के. प्रस्तुत पा. हे. भण्डारनी प्रतनो कोईक अंश होय ?
३. प्रस्तुत सूक्तमालामां १२मुं अने १६मुं पद्य न-विपुला मां तथा ३६मुं अने १०१ मुं पद्य म-विपुलामां निबद्ध छे.
४. नरेन्द्रप्रभसूरिजीनां गुरु नरचन्द्रसूरिकृत 'अनर्घराघवटिप्पण' (ला.द.भे.सू. ५२४)नां मंगलपद्य साथे प्रस्तुत सूक्तमालानुं मंगलपद्य सरखावो. गुरुनी असर देखाशे. परब्रह्ममयं ज्योति प्रणिधाय.... अने प्रस्तुत सू.मा.नुं मंगलपद्य प्रणिपत्य परं ज्योति.....
५. नारोहयेद् धुता.
६. छेदकारकः A
७. विधौ वै० A
८. किंकेलि, अहीं अे नोंधवुं योग्य लागे छे के हैमीय - देशीशब्दसंग्रहनी गाथा १८६मां 'कंकेलि' शब्द छे.
९. विसा(शा)रदः A J
१०. मिरोदये ।
११. ननु जायेत दुःसहः ।
१२. उपाजीर्यत तत् कैश्चिद् ।
१३. माम्लस्य ।
१४. कुसुमोदयः ।
१५. बप्पीहः पातुमीहते ।
१६. क्रमाल्लक्ष्मी० ।
१७. लुम्पति ।
१८. कापोतः ।

१९. फलिष्यताऽनेन ।
 २१. फलोदये ।
 २३. परोलक्षै० ।
 २५. ०प्रभु- A ।
 २७. ०निबन्धनात् ।
 २९. व्यवसायं प्रयासाय ।
 ३१. शेषापुष्पं ।
 ३३. हृदयङ्गमसङ्गमाः इत्यप्यन्वयः स्यात् गम-सङ्गमा इति ज्ञानसंयोगा इत्यर्थः ।
 (सम्पादकः ।)
 ३४. ०मालिहय दो० ।
 ३५. ... लोके, अम्भोधि केन गम्यते A ।
 ३६. स्यादप्यलौकिकः A ।
 ३८. ०पक्रम० A ।
 ४०. भजन्ते के० ।
 ४२. घनीयन्ति A ।
 ४४. ०ऽपि निःक्लणः ।
 ४६. भ्रामयेद् ।
 ४८. ०कारपुरःसरम् ।
 ५०. बलवान्नव० ।
 ५२. न कल० ।
 ५४. पश्य इत्यनेन सह वृद्धिमती शिखा इति पदं प्रथमान्तं सुष्ठु भासते ।
 सम्पादकः ।
२०. सन्तापनोपैति ।
 २२. न भवेत् परभाग्याय ।
 २४. सवोऽन्यदा ।
 २६. ०राम्लस्य A ।
 २८. ०नेनत्ववस्यति ।
 ३०. ध्रुवमस्था० ।
 ३२. जात्यातिभास्वरे ।
 ३७. हारसृजः (हारः सृजः) ।
 ३९. काञ्चना० ।
 ४१. परालक्षे० ।
 ४३. किमु ।
 ४५. ध्यानं कार्ये बको० A ।
 ४७. स्नात्वा ।
 ४९. एकं मायासुतं पश्य ।
 ५१. ०भषणं वीक्ष्य ।
 ५३. हस्तिनः सुबिभू० ।

—X—

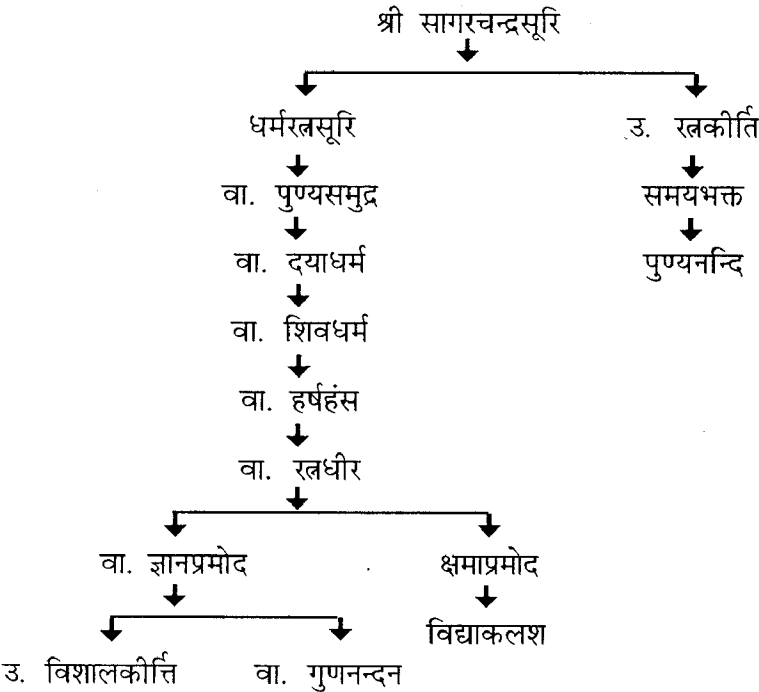
C/o. २०३/B, एकता एवन्तु
 बेरेज रोड, वासणा,
 अमदावाद-७

वाचकोत्तंस-श्रीज्ञानप्रमोदगणि-सन्दृब्ध

आदिनाथ-पार्श्वनाथ-स्तोत्र

म० विनयसागर

खरतरगच्छ की १० शाखाएँ और ४ उपशाखाएँ हैं। दूसरी उपशाखा श्री सागरचन्द्रसूरि उपशाखा कहलाती है। सागरचन्द्रसूरि का समय १५वीं शती है। जैसलमेर नरेश राजा लक्ष्मणदेव इनके बड़े प्रशंसक और भक्त थे। जिनभद्रसूरि को आचार्य बनाकर पट्टधर घोषित करने वाले भी यही थे। इन्हीं सागरचन्द्रसूरि की परम्परा में वाचक रत्नधीर के शिष्य वाचक ज्ञानप्रमोदगणि हुए हैं। खरतरगच्छ का बृहद् इतिहास पृष्ठ ३३७ के अनुसार इनकी परम्परा इस प्रकार है :-



‘धीर’ दीक्षानन्दी को देखते हुए वा० रत्नधीर की दीक्षा श्रीजिनमाणिक्य-सूरिजी के कर-कमलों से संवत् १६१२ के पूर्व ही हुई थी। ज्ञानप्रमोद की

दीक्षा कब हुई निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि स्थापित ४४ नन्दियों में १८वाँ नम्बर 'प्रमोद' नन्दी का है। रत्ननिधानोपाध्याय का १६२८ के पत्र में उल्लेख है, और उनकी नन्दी संख्या १२ है। अतः १६३५ के आस-पास ज्ञानप्रमोद की दीक्षा होनी चाहिए, और सम्भवतः इनको वाचक पद जिनसिंहसूरि ने प्रदान किया हो।

वाचक ज्ञानप्रमोद की मुख्य कृति वाग्भटालङ्कार टीका है। इसकी रचना संवत् १६८१ में हुई। वाग्भटालङ्कार की प्राप्त टीकाओं में यह सब से बड़ी टीका है। टीकाकार ने इस टीका में अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य का दिग्दर्शन करवाया है। लगभग ५ दशक पूर्व पुरातत्त्वाचार्य मुनिश्री जिनविजयजीने मुझे दो ग्रन्थों का सम्पादन कार्य दिया था - १. वाग्भटालङ्कार ज्ञानप्रमोदीय टीका और २ लघु पंच काव्य शान्तिसूरिकृत टीकासहित। मैंने अनेक प्रतियों के पाठान्तर इत्यादि से संवलित कर दोनों प्रेसकोपियाँ मुनिजी को सौंप दी थी... - सम्भवतः यह ज्ञानप्रमोदीय टीका लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृत विद्या मन्दिर, अहमदाबाद से प्रकाशित हो चुकी है।

प्रस्तुत दोनों स्तोत्रों की किस प्रति के आधार से मैंने प्रतिलिपि की थी, मुझे ध्यान नहीं है। यह निश्चित है कि वह प्रति १८वीं सदी की अवश्य थी।

१. प्रथम आदिनाथ स्तोत्र १४ पद्यों में है। १-१३ पद्य वसन्ततिलका और १४वाँ पद्य स्रग्धरा छन्द में है। १४वें पद्य में कोट्टुर्गालङ्कार का उल्लेख किया है, किन्तु यह कोट्टुर्ग कौनसा है शोध्य है। यदि नगरकोट (हिमाचल प्रदेश) की कल्पना की जाए तो सम्भव प्रतीत नहीं होती। कोट्टु शब्द से जोधपुर प्रदेशस्थ होना चाहिए।

२. दूसरा स्तोत्र रतलाम मण्डन पार्श्वनाथ स्तोत्र है। इस रतलाम को रत्नपुरी, रत्नावली आदि नामों से भी जाना जाता है। यह मध्यप्रदेश में है। इस स्तोत्र में ८ पद्य वसन्ततिलका छन्द के हैं और अन्तिम ९वाँ पद्य इन्द्रवज्रोपजाति का है।

इन दोनों स्तोत्रों की भाषा और शैली देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अधिकारी विद्वान् था।

वाचक ज्ञानप्रमोद के शिष्य विशालकीर्ति व्याकरण के प्रौढ़ विद्वान् थे । इनका विरुद सरस्वती था और ईडर की राज्य सभा में इन्होंने जय प्राप्त की थी । इनकी प्रक्रिया कौमुदी टीका और सारस्वत व्याकरण टीका प्राप्त है ।

कोट्टदुर्गमण्डन

आदिनाथ-स्तोत्रम्

विश्वप्रभुं प्रणतनाकिकिरीटरत्न-
घृष्टांह्रिपीठमसुमत्सु कृपाप्रयत्नम् ।
चेतस्समीहितसुरद्रुमतार्घ्यसेवं,
भक्त्या स्तवीमि सुतरां जिनमादिदेवम् ॥१॥

श्रीनाभिभूपकुलपुष्करपद्मिनीपं,
लोकत्रयीसकलभावविभासदीपम् ।
तत्त्वाप्तये भजत भव्यजनाः ! कृतार्थं,
प्रोद्यच्छरच्छशिमुखं च युगादिनाथम् ॥२॥

प्रह्लाङ्गिसङ्गकरुणोपकृतौ गरिष्ठः,
प्रोद्दामकामकरितुङ्गमृगारिष्ठः ।
सत्कोमलक्रमणसंवृतवामपद्मः,
पायात् स वः प्रथमतीर्थकरोऽर्थसद्यः ॥३॥

स्फूर्जद्धरिप्रभृतिदेवविलक्षणोरु-
नानाचरित्रसुचमत्कृतविष्टपोरुम् ।
भक्ताङ्गिनिर्मितमनोज्ञकुनाभिजातः,
स श्रीप्रदोऽस्तु भविनां किल दत्तसातः ॥४॥

आनम्रदानवसुरेश्वरचञ्चरीक-
श्रेण्या निषेवितमनारतमस्तपङ्क ! ।
पद्माश्रयं भविनृणां ननु मानसं ते
पादाम्बुजं समभिनन्दतु पूतकान्ते ! ॥५॥

त्रैलोक्यसंस्फुरितकेवलवासरेन्द्रं,
 शत्रुञ्जयावनिधरेश्वरमाप्तभद्रम् ।
 विस्मेरचम्पकमणीचकचन्दनाद्यै-
 र्धन्याः प्रभु समभिपूजयताऽऽर्द्रहृद्यैः ॥६॥

पर्युल्लसदुणमणीरुचिराकराय,
 प्रोत्तुङ्गमोहगिरिभिद्धिदुरेश्वराय ।
 क्रोधादिशत्रुगणनिर्जयसाधनाय,
 तुभ्यं नमो वृषभसत्तमलाञ्छनाय ॥७॥

विश्वातिशायिमहिमागरिमप्रतानं,
 चक्रेश्वरीसविधगोमुखसेव्यमानम् ।
 भक्तिप्रकर्षपुलकाञ्चितकायदेशाः,
 श्रीमारुदेवमभिवन्दत भो नरेशाः ! ॥८॥

दुःखं विभो ! व्यपनयस्व विनम्रभूष !
 नाभेस्तनूजरुचिर्निर्जितजातरूप ! ।
 पुण्याम्बुधे ! प्रणिपतज्जनमण्डलानां
 धर्मैकताननरमानसनिर्मलानाम् ॥९॥

.....
 निःशेषसत्त्वकुमुदालिनिशाकराभम् ।
 विष्वक्स्फुरत्सुरसरित्सलिलावदात-
 कीर्त्ति नराः ! श्रयत तीर्थपतिं नितान्तम् ॥१०॥

तत्कौशलोद्भव ! भवार्णवपोत ! नेत-
 र्नित्यं क्षमाबहलधूर्वृषभामजेत ।
 सम्यग्दृशां प्रजनयस्व पराद्भ्यर्च्यबुद्धि,
 नूनं जगत्त्रितयसेवित ! कर्मशुद्धिम् ॥११॥

वैविष्टपत्रयजनार्त्तिविनाशनाय,
 शश्वच्छुभ्रव्रततिपङ्क्तिघनाघनाय ।

व्याकोशपङ्कजदलोपमलोचनाय,
त्वादीश ! ते जिन ! नमोऽस्तु सनातनाय ॥२२॥

निस्यन्दभन्दसुखकन्ददमाभिरामं,
सत्यश्रियोऽधिप ! जिनाधिपते ! प्रकामम् ।
वृन्दारकद्रुम-मणी-वरधेनुकुम्भं,
कामप्रदं पदयुगं तव नौम्यदम्भ ! ॥१३॥

इत्येवं कोट्टुदुर्गे जिनगृहकमलाशेखर ! प्राक्प्रजेशः,
नाथ ! स्तोत्रं पवित्रं तव सुखदमिदं भूरिभावैरधीश !
श्रीमच्छ्रीरत्नधीरस्य च परमगुरोः सप्रसर्तोर्जिनेन्द्र-
लक्ष्यै ज्ञानप्रमोदाभिधमुनिरचितं तद्विदां स्याद्वितन्द्रः ॥१४॥

इति श्री आदिनाथ स्तोत्रम्

पं. हीरणंदपठनार्थम्

रतलाम-भूषण

पार्श्वनाथ-स्तोत्रम्

आनन्दनम्रविबुधाधिपमौलिकोटी-
माणिक्यकान्तिमहितांहिनखत्विषं वै ।
उद्यत्प्रतापमहिमेन्दिरया सनाथं,
भक्त्या नमामि सततं, प्रभुपार्श्वनाथम् ॥१॥

श्रीअश्वसेननराजकुलावतंसं,
वामोरुकुक्षिसरसीवरराजहंसम् ।
विश्वत्रयीकलुषपावनतीर्थनाथं,
भक्त्या नमामि सततं प्रभुपार्श्वनाथम् ॥२॥

दुग्धार्णवेन्दुकिरणामलकीर्त्तिभासं,
भव्याम्बुजावलिविबोधनचारुसूर्यम् ।
पद्मावतीधरणसेवितभिक्षुनाथं,
भक्त्या नमामि सततं प्रभुपार्श्वनाथम् ॥३॥

स्वोद्योतवीक्षणविनिर्जितचन्द्रपद्मं,
यस्याननं निरुपमं भविकस्य तोषम् ।
संवीक्ष्य नेत्रमुपयाति भयप्रमाथं,
भक्त्या नमामि सततं प्रभुपार्श्वनाथम् ॥४॥

पद्मेक्षणा घनपयोधरभारनम्रा-
श्वैत्ये नरीनृतति यस्य पुरो ब्रुवाणाः ।
गीतस्तुतिं जिनपतेः कथिताऽऽर्यगाथं,
भक्त्या नमामि सततं प्रभुपार्श्वनाथम् ॥५॥

श्रीस्तम्भनाधिपजिनं रतलामपार्श्वं,
यं श्रीअवन्ति-मगसी-पुरतीर्थराजम् ।
नत्वा जिनं लभथ सौख्यमहो ! सुसार्थं,
भक्त्या नमामि सततं प्रभुपार्श्वनाथम् ॥६॥

शङ्खेश्वरादिरुचिरैर्जिननामधेयैः,
पार्श्वप्रभुर्विजयते भुवि नीलवर्णः ।
सम्पूरयन् जनमनोऽभिमतं कृपार्थं,
भक्त्या नमामि सततं प्रभुपार्श्वनाथम् ॥७॥

योऽभ्यर्चितस्तु कुसुमैर्विधिना स्तुतो वा,
पापं भिनत्ति भविनां यदि शं प्रदत्ते ।
कल्पद्रुमौघफलितश्च समीहितार्थं,
भक्त्या नमामि सततं प्रभुपार्श्वनाथम् ॥८॥

इत्थं मुदा श्रीरतलामरत्न !
श्रीरत्नधीरस्य गुरोः प्रसादात् ।
ज्ञानप्रमोदेन जिनः स्तुतो वः,
पायादपायात् स हि पार्श्वदेवः ॥९॥

इति श्री पार्श्वनाथस्य लघुस्तोत्रम्

प्राकृत भारती अकादमी,
१३-ए, मेन मालवीय नगर,
जयपुर

અજ્ઞાતકર્તૃક

શ્રી આદિનાથ-બાલલીલા

સં. વિજયશીલચન્દ્રસૂરિ

પ્રથમ જૈન તીર્થંકર આદિનાથની બાલક્રીડાને વિષય બનાવીને રચાયેલ આ લઘુ કૃતિ 'લાવણી' પ્રકારની રચના હોય એમ જણાય છે. આના પ્રણેતા કોણ છે તે, અન્તિમ કડીઓમાં કવિનું નામાચરણ ન હોવાથી, નક્કી કરવું અશક્ય છે. આ પ્રતના બીજા પત્રમાં, બાલલીલા પૂર્ણ થયા પછી, પૃષ્ઠભાગમાં ૨૦ વિહરમાન જિનનું ચૈત્યવન્દન લખેલું છે, તેના અક્ષર પળ 'બાલલીલા'ના અક્ષર તુલ્ય જ હોઈ, બધું એક જ લેખક દ્વારા લખાયેલું જણાય છે. તે ચૈત્યવન્દનમાં તેના કર્તા તરીકે 'સુધનહર્ષ'નું નામ છે. બની શકે કે તેમણે જ આ પ્રતિ લખી હોય. અને તો તેમણે જ આ રચના (બાલલીલાની) કરી હોય એવી શક્યતા પણ સ્વીકારી શકાય. પ્રત સં. ૧૮૪૧માં લખાઈ છે, તેથી આ રચના પણ ૧૯મા શતકની હોવાનું માનીએ તો કોઈ આપત્તિ નથી જણાતી.

આના કર્તા પર ઉત્તર ગુજરાતની બોલીની ગાઢ અસર તો છે જ (સંઘોડાં-૧૨, મેંઠાં-૧૬), પણ થોડીક મરાઠીની પણ અસર વર્તાય છે. દા.ત. ક. ૨૧માં 'અંઘોલ કરો ને આતા', 'આતા' એટલે હવે, હમણાં; આ શબ્દ સ્પષ્ટતઃ મરાઠી છે.

પ્રથમ કડીમાં કર્તા બાલકૃ(ક્રી)ડા વર્ણવવાની પ્રતિજ્ઞા કરીને પછીની કડીઓમાં ભગવાનના વસ્ત્ર-શણગારનું મધુર વર્ણન આપે છે. ૧-૧૦ કડીઓમાં 'રામતિ' - સ્મતની વાત છે, જેમાં ગેડી-દડી, ચકરડી-ભમરડી, વાંસઢી-વેણુ, ધનુષ વગેરે દ્વારા ક્રીડાનો સંકેત આપ્યો છે. ક્રીડાના સાથી બન્યા છે દેવી-દેવો. સ્મતાં સ્મતાં વઢી ભૂંચ લાગે એટલે મા પાસે જઈ રાડ પાડી, હસી હસીને સુખડી (ક-૧૧) માગે છે. એટલે મા કહે છે કે સ્મત મૂકીને આવો (ક. ૧૪) તો બધું મઢે. અને પછી મા કેવા કેવા 'ભાગ' આપે છે તેનું વર્ણન ક. ૧૨-૧૯માં વિશદ થયું છે.

ક. ૨૦-૨૧માં માતા પુત્ર-પ્રભુને હૈયે (ગોદમાં) લઈ સમજાવે છે કે સ્મી-ભમી બહુ થાક્યા, હવે આવો તો ન્હવરાવી દડં. અને ૨૨-૨૬માં અંઘોઢ-

स्नाननुं वर्णन आवे छे. पछी वात थई छे भोजननी. क. ३० थी ४७मां भोज्य पदार्थानुं अन्नकूटोत्सव-समुं वर्णन छे; क. ३८मां हाथ मों धोई भोजन पूरं थयानुं सूचन छे; तो क. ४९-५०मां मुखवास-विधिनुं वर्णन छे. आ पछी प्रभुने माता सुवडावी दे छे, तो ते शय्यानुं-शयनस्थाननुं वर्णन क. ५१-५२ मां सरस थयुं छे.

वैष्णव सम्प्रदायमां ठाकोरजीना मनोरथोनुं थाय तेवुं ज लगभग आ वर्णन छे, जे भक्त हृदयने अनेरा भक्ति-उल्लास जगाडी जाय तेवुं छे. आ वर्णनमां आवतां भोज्य पदार्थानां नामोनो परिचय कोई रसिकजन विगते करावे तो अपेक्षित छे.

रमत ते 'रामति', 'मरकडलो' ते अत्यारे 'मरकलडा' तरीके जाणीतो शब्द छे, जेनो सम्बन्ध मन्द मन्द स्मित थाय छे; 'खलह' ते 'खलेलां-लीली खारेक'; 'पुंख' ते पोंक; 'मोगरेल' ते मोगरानुं तेल; 'चांपेल' ते चंपानुं तेल (धूपेल-फुलेल जेवा प्रयोग); 'डोइले' एटले 'डोया वडे; 'इंडी पिंडी' ते पोंखणां वाचक; 'ताकची' ते वळी कोई मराठी शब्द; 'ठोठडी' ते घउंता ठोठां-पोंक; 'मगा'थी मग समजाय; 'ढुढण' नथी उकलतुं; 'प्रीसु'-पीरसुं; 'शदाफल' एटले सीताफल ?; 'करमख' ते हमणां 'कमरख' नामे जाणीतां; थोडाक शब्दो विषे आटली खणखोद.



श्रीआदिनाथ बाललीला ॥

सरसतीमातादेवी, चरणकमल शेवि, बालकृ(क्री)डा गांउं आदिनाथनी ॥१॥
 जेहने मरुदेवी मात, ये(जे)हने नाभिरायां तात, इंद्र चंद्र सेवें पाय प्रथमनाथ ॥२॥
 अंगतणी शोभा बहु, त्रण्य ज्ञाने सुझें सह, इंद्रथी अधिको रूप पार न लहुं ॥३॥
 मार्थे रे मुगट सोहें, सोवनकुंडल दोइं, ललकती लाल चोटि नव घरुं सोहें ॥४॥
 बाजुबंध बैरखा बांहि, शोवन कडलि त्यांहों, मुद्रा कानें वेढ वीटि आंगुलिमांहें ॥५॥
 केंडें ते कन्दोरो सार, पाए झांझर झम्मकार, घुघर घुंमावों वछ न लहुं पार ॥६॥
 कोटें नवसर हार, तेज नवि लाभें पार, रायमलबहुमल अंगें सेंणगार ॥७॥
 पछेडो पीतांबर केरे, कभायनो झगोकणो(?) पंचवरणी वेणी पुत्र पेरोने चरणो ॥८॥
 पाए ते खरी मोजडी, हाथमां गेडी नें दडी, देवतास्युं देव रमें रामति सडी ॥९॥

चकरडी भमरडी पीलि, भमरडा चकरडी नीली,
 कालि वंशी वेंण वाजें धनुषधोलि ॥१०॥
 बोलंतो बालुडो बोलें, माडी साथें मांडें रडि,
 मरकडलो देइ मागें सुखडी बहुल ॥११॥
 सरीफल सेंघोडां छेलि, खलह खजुर भेलि, अखोड बदाम वछ दाडिमकलि ॥१२॥
 खार्यक टोपरां-बहुं, चारोलि चारवि सहु, साकरलिगां खरमां पुत्रनें कहुं ॥१३॥
 द्राख बें नीलि सुकी, खशखशमां खांड मुंकी,
 आवो रे अलवेशर वीरा रंमति मुंकी ॥१४॥
 काकरीयां तलशांकलि, गोलनी पापडी गलि,
 कुलेर तिलवट आलुं गुंदस्यु तलि ॥१५॥
 मेंटां आंबारस घोलि, खांड केलां घृत भेलि,
 रंयण फणस वत्स आपुं नि कोलि ॥१६॥
 धांणी चेंणा लिओ जिलुंआ, दुधें पच्या आलुं पुआ,
 पुंख नें शेलडीशांठा लिओ जिजुआ ॥१७॥
 कमलकाकडी कुलि, चोला नें मगानि फलि,
 आंबानि कातलि पस्तां आलुं जी छेलि ॥१८॥
 सुखडी रंयण सुकी, दुधमां शाकर झोकी,
 पंचामृत आदें शवि सुखडी मुंकी ॥१९॥
 भणें मरुदेवी मात, आवो वत्स कहुं वात, हसीने हइयामां लि प्रथमनाथ ॥२०॥
 हसी रमी भमी थाका, अंघोल करोनें आता, उवारणां लिइं मरुदेविअ माता ॥२१॥
 चुआरस भरी कचोलि, मोगरेल चांपेल भेलि,
 केशरकपुर रोलि, देइ माय अंघोलि ॥२२॥
 जलवट सोनातणी, बेंठा छें त्रीभोवनधणी,
 कस्तुरी जबा ति बांधी उगत घणी ॥२३॥
 त्रांबाकुंडी जल भरी, नीरमल नीरगलि, हेंम डोइलें नवरावें उलट घणें ॥२४॥
 उवारणां इंडीपिंडी, भामणां लिइं मावडी, इशवन्न लुंण करें तेवतेवडी ॥२५॥
 गंगोदक देवें दीधां, चरणोदक शवि लिधां, वस्त्र पेंरावि सवि कारज्य शीद्धां ॥२६॥
 सुरयकोडिथी बहु, रूपें मोह्यां देव शहु, अंगनी स्यौभा एकें जीभें स्युं कहुं ॥२७॥

विध्यें आवि बेंसो बाल, शोवनमें मांडी थाल,

भणें मरुदेवी वछ छांडो नें आल ॥२८॥

इंद्र आर्दि देव बहु, जेहनां गुण गायें सह, रुचें ते भाइ कहो भोयन करुं ॥२९॥

खाजा बोजां रवारी पुरी, घुघर फणस भेलि[करी],

वरसोलां घेवरमाहिं साकर चुरी ॥३०॥

ज्यलेबी हे(द?)शमी शार, ताकची मांडी कंशार,

दुधपाक कोलापाक कर्यो अ विचार ॥३१॥

दहेंथरां फाफडा भेलि, सेवमां सुहालि मलि,

फेंणीमाहिं मरकी मलि खांडस्युं रलि ॥३२॥

घारी दलिया नें घुकरीया, मोतीया लाडुआ कसमसिया,

चुरमा नें मगर(मग)ना लाडु परीसु सेवइया ॥३३॥

मांडा पुडा वडां पोलि, वेढमी बे चांपि तलि,

खिर खांड घीयस्युं ठोठडी गलि ॥३४॥

पकवांन आदें गहुअतणां, लापशीमां घीय घणां,

दुध ने खांड मेंथीसुं (में घीसुं) भाणुंअ भरी ॥३५॥

कमोदि शालिनो कुर, स्यंघत साठी पडी चुर,

देवतास्यु इंद्र आदें पुरवे सुर ॥३६॥

तुवर्य मगानि दालि, मसुर चोलानि दालि,

घीअ घणुं बांधोनें पुतर पालि ॥३७॥

खीचडो खीचरी रोटि, द्रुढण कोदरा बरटी,

सुंदरणुं कणीआलुं ढोकलि मेंठी ॥३८॥

पापड पापडी वडी, राइतुं मरीनुं करी,

कचुंबर आदि पट कोठनी वडी ॥३९॥

चीभडां काचां नें पाकां, त्रुंशडी डांगर नीकां,

खडबुजां वनोलां सीलां मरीतां पाकां ॥४०॥

टेडुरां फुट चिभडां, आलुआं ने टेंडशरां,

वग्धारीने वाश देस्युं प्रीसुजी घणां ॥४१॥

नीलुआ चणा रे मणा, नीला वलि नथि मणा,

चुलानी वालोलि काचां केलां ते घणां ॥४२॥

कारेलां कंकोडां भेलि, रायडोडी डोडी छेलि,
 कोलानी काचरि वलि काकडी कुंलि ॥४३॥
 काकडी र करमदां, सुंठि खाखटी नें कोठेवडां,
 काचरी तेलस्युं तलि विवेंकें करी ॥४४॥
 शांगरी कडानि फलि, लांबलियां तलि कातलि,
 सुकवण्य शवेमां आंबलि भलि ॥४५॥
 नार्यगां करणां जंबिरां, लेंबू शदाफल बिजोरां,
 करमख राइ आंबलां कीधां छिं खरां ॥४६॥
 करंबो कपुरें वास्यो, सथरो दहेंमां प्रीस्यो,
 घोलुआमां जिरालुंण मुंकीय प्रीसुं ॥४७॥
 शोना केरी झारि भरी, नीरमल नीर गलि,
 चलु देवरावें माडी आंगंद भरी ॥४८॥
 पुफ्क फल तणी बीडी, काथा रंगस्युअ भीडी,
 मुखशोझ करो भणें मावडी ॥४९॥
 लवेंग एलचि सार, जावंतरी नें जायफल,
 तज तमाल मांहि बराश सार ॥५०॥
 ढोलिओ छप्परघाट, हीरनी दोरीनो खाट,
 शोनानी शांकलें बांधि जडीत खाट ॥५१॥
 शखर तलाइ खाट, ओशीसानी नवि भाति,
 गाल मसुरीए तमे पोढो जी नाथ ॥५२॥
 पोढी करी उठ्या राय, चोराशी लख्व पुरव आय,
 पांचसैं धनुष काय त्रिलोक्य राय ॥५३॥
 अजोध्या नगरीनो धणी, नरनारी बेहुं भणी,
 चीरंजिवो तमो आदिनाथ धणी ॥५४॥
 इतीश्री आदिनाथनी बाललीला समाप्तं ॥ सुखडी लखी छें ॥
 पत्र २/२ मां छेवटे=संवत् १८४१ वर्षे पोस वदि १३ दिने लिषीतं मेंसांणानगरे ॥
 श्री पार्श्वनाथप्रसादात् ॥



કવિરૂપચન્દ્રકૃત જિનાનાં પંચકલ્યાણકાનિ

(ડિગમ્બર આમ્નાયાનુસારી)

સં. વિજયશીલચન્દ્રસૂરિ

કચ્છના વિહાર દરમ્યાન કોઈ કોઈ સ્થાને કોઈ પુરાણી પ્રતિઓ જોવા અનાયાસ મઢી ગઈ, તેમાં અમુકની નકલ કરાવેલી, તેમાંની ંકનું સમ્પાદન અત્રે પ્રસ્તુત છે. આમાં જૈન તીર્થકરની 'પાંચ કલ્યાણક' તરીકે પ્રસિદ્ધ ંવી પાંચ જીવન-ઘટનાઓનું બયાન કરતી ગેય ગીત-રચના છે. આ પ્રકારની રચનાઓ તો જૈન કવિઓં ઘણી રચી હોય છે અને તે પ્રસિદ્ધ પળ હોય જ છે. પરન્તુ આ રચનાની વિશેષતા ં છે કે ં ડિગમ્બર જૈન મતને અનુસરતી રચના છે. આ રચના પ્રસિદ્ધ નથી ંવું લાગવાથી તે અહીં આપી છે.

પાંચ કલ્યાણક તે ૧. ગર્ભકલ્યાણક : જિનનો આત્મા ડેવલોકમાંથી નીકઢી માતાના ગર્ભરૂપે અવતરે તે ઘટના; ંને શ્વેતામ્બરો 'ચ્યવનકલ્યાણક' તરીકે ંઢઢે છે. ૨. જન્મકલ્યાણક : જિનનો જન્મ થાય તે ક્ષણની ઘટના. ૩. ઢીક્ષાકલ્યાણક : જિન સંસાર ત્યજીને ઢીક્ષા લે તે ઘટના; અહીં તેને 'તૃતીય કલ્યાણક' નામે ંઢઢાવેલ છે. ૪. જ્ઞાનકલ્યાણક : ઢીક્ષિત જિન ંગ્ર તપ ઢ્વારા કર્મક્ષય કરવાપૂર્વક કેવલજ્ઞાન મેઢ્ઢે તે ઘટના; અહીં તે 'ચતુર્થકલ્યાણક' તરીકે ંઢઢાવેલ છે. ૫. મોક્ષકલ્યાણક : જિન મૃત્યુ પામી મોક્ષપઢ પ્રાપ્ત કરે તે ઘટના.

આ પાંચે ઘટનાઓને કલ્યાણક ંટલા માટે કહેવાય છે કે તે ઘટના ઘટે તે ક્ષણે સમગ્ર જીવસૃષ્ટિને આનન્ડ, સુખ અને શાતાનો, ક્ષણિક જ, પળ અકલ્પનીય અનુભવ થતો હોય છે. જગતનું કલ્યાણ જેનાથી થાય તેનું નામ કલ્યાણક !

જૈનોની બે ઢારા: શ્વેતામ્બર અને ઢિગમ્બર: સવસ્ત્ર માર્ગ અને નિર્વસ્ત્ર માર્ગ. બન્ને મતે કલ્યાણક પાંચ જ; પળ પ્રાસંગિક માન્યતાભેઢ ડરો. ઢા.ત. ગર્ભકલ્યાણકના પ્રસંગમાં શ્વેતામ્બરો જિન-માતાને ૧૪ સ્વપ્ન આવ્યાં ંવું માને, તો ઢિગમ્બરો ૧૬ સ્વપ્ન માને. આવા મતભેઢો જોવા મઢે.

પ્રસ્તુત રચના કવિ રૂપચન્દ્રજીં રચી છે. તેમનો સત્તાકાલ જાળવા

मळतो नथी; दि. साहित्यमां तपासतां मळवानो पूरो सम्भव. प्रतिनो ले.सं. १८६८ छे, तेथी ते पूर्वे तेओ थया ते तो स्पष्ट छे. प्रतिना लेखक 'गणि सरूपचंद' छे, तेमणे 'नेमसागर' माटे लखेल छे; आ बत्रे श्वे. आम्यायना मुनिओ होय तेम 'गणि' शब्द द्वारा सूचित थाय छे.

आ रचनानी भाषा व्रजमिश्रित खडी हिन्दी जणाय छे. रचना श्रवणमधुर, प्रासादिक तथा भक्तिप्रचुर छे. त्रोटक अने हरिगीत ए बे छन्दोमां समग्र कृति रचाई छे. कुल ४८ कडी छे. त्रोटकमय प्रत्येक कडीनो अन्त्य शब्द, हरिगीतनो आद्यशब्द किंवा उपाड बने छे, ते कविनी काव्यकुशलता प्रत्ये संकेत करनारं छे.

आम तो समग्र प्रतिपादन दिगम्बर मान्यता अनुसारी ज छे. परन्तु जे केटलीक प्राचीन दिगम्बर मान्यताओने ते मतना ज अर्वाचीनो उवेखे छे के ठुकरावे छे, तेमांनी एक प्राचीन दि. मान्यता आ रचनामां पण उल्लिखित जोवा मळे छे. चोथी ढालनी पांचमी कडीमां "सकल अरधमागधीय भाषा जानीई." आमां जिन अर्धमागधी भाषामां देशना (उपदेश) आपता होवानी वात सूचवाई छे. पण पाछळना दि. मत अनुसार "जिन भाषा बोलता नथी, अने फक्त 'दिव्य ध्वनि' ज तेमना कंठथी प्रगटे छे. तेमज अर्धमागधी भाषा तो साव अर्वाचीन छे." आ बत्रे मान्यता केटली अर्वाचीन छे, तथा ते ज कारणे ते केटली अनुचित के अग्राह्य छे, तेनो खुलासो, एक दि. कविनी ज आ पंक्ति आपी देती जणाय. छे.

आ रचनानी पांच पानांनी हस्तप्रतिनी नकल कच्छ-नवावासना भण्डारमांथी उ. श्रीभुवनचन्द्र म.ना औदार्यथी सांपडी छे, ते नोंधवुं जरूरी छे. तो साध्वी दीप्तिप्रज्ञाश्रीजीए आ प्रति परथी सुवाच्य प्रतिलिपि लखी आपी छे, ते पण नोंधवुं घटे.



॥ अथ दिगंबरमतानुसारी पंचकल्याणकानि कविश्री रूपचंद्रजी कृतानि लिख्यते ॥

पणमवि पंच परमगुरु गुरुजन शासनं
सकल सिद्धिदातार हि विघन विनाशनं ।

सारद उर गुरु गौतम सुमति प्रकाशनं
मंगलकर हो चौ संचहि पाप प्रणासनं ॥१॥

पापहि प्रणासन गुनहि गिरुओ दोष अष्टदश रह्यो
धरी ध्यान कर्म विनाशि केवलग्यांन अविचल जिन लह्यौ ।
प्रभु पंचकल्यानक विराजत सकल सुनर ध्याबहिं
त्रैलोक्यनांथ सुदेव जिनवर जगत मंगल गावहिं ॥२॥

जाके गरभकल्यानक धनपति आईओ
अवधिन्यान परवानसुं इंद्र पठाईओ ।
रचि नव बारह जोजन नयरि सोहावने
कनक रयण मणि मंडित मंदिर अति बने ॥३॥

अति बनें पोलिपगार परिखा सुवन उपवन सोहए
नरनारि सुंदर चतुर भेखसु देखि जन मन मोहए ।
तिहां जनकगृहे छम्मास प्रथमहिं रतनधारो बरषीओ
फुनि रुचकबासीजननि-सेवा करहिं बहुबिध हरषीओ ॥४॥

सुरकुंजर-सम कुंजर धवल धुरंधरो
केसरिकेसर शोभित नख शिख सुंदरो ।
कमला कलस सोवन दोइ दाम सुहावने
रवि शशि मंडल मधुर मीन युग पावने ॥५॥

पावने कनक घट जुगम पूरन कमल ललित सरोवरू
कल्लोलमाला-कलित सागर सिंहपीठ मनोहरू ।
रमनीक अमरविमान फुनि पतिभुवन भुव छबि छाजहिं
रुचि रतनराशि दीपंति दह दिस तेज पुंज बिराजहिं ॥६॥

हे सखि सोलह सुपने सूती सैं नही
निरखी माय मनोहर पछि मरें नहीं ।
ऊठि प्रभात पिउ पूछ्यो अवधि प्रकासीओ
त्रिभुवनपति सुत होसी फल तिहां भासीओ ॥७॥

भासीओ फल सुनि चित्त दंपति परम आनंदित भए
छम्मास परि नबमास फुनि तिहां रयनि दिन सुख सुं गए ।
गरभावतार महंत महिमा सुनत सब सुख पावहीं
त्रैलोक्यनाथ सुदेव जिनवर जगत मंगल गावहीं ॥८॥
इति श्रीगर्भकल्याणकं ॥

- ॥ मति श्रुति अवधि विराजित जिन जब जनमीओ
त्रैलोक्य भयौ है क्षोभित सुरगण भरमीओ ।
कल्पवासी-घरि घंट अनाहद वज्जीओ
जोइसि-घरि हरिनाद सहि जगल गज्जिओ ॥१॥
- गरज्यो ते सहिजे संखभावन भवन शबद सुहावनै
व्यंतर-निलय पट्ट पटह बज्जै कहत क्यौ महिमा बनै ।
कंपित सुरासुर अवधिबल जिन-जनम निहचें जानियो
धनराज तब गजराज मायामही निरमय आनीयो ॥२॥
- योजन लक्ष गजेद्र वदन वसु निरमए
वदन वदन वसुदंत दंत सिर सर ठए ।
सरसरसो पेणवीस कमलिनी बाजहि
कमलिनी कमलिनी कमल पचीस बिराजहीं ॥३॥
- राजहीं ति कमलिनी कमल अट्टोत्तर सौ मनोहर दल बने
दलदल अपछर नृत्यहीं सो हाव-भाव सोहावने ।
मणि कनक कंकण वर विचिह्णित अमर मंडित सोहए
घन घंट चमरधजा पताका देखि जन मन मोहए ॥४॥
- तिहिं करि हरि चढि आयौ सुर परिवारीओ
पुरहिं प्रदच्छिना देइ करी जिन जयकारीओ ।
गुपति जाइ जिन जननीनु सुखनिद्रा रची
मायामय शिशु राख्यौ जिन आन्यौ सुची ॥५॥

आन्यौ सुची जिनरूप देखत नयन नृपति न पूजए
 तव परम हरषित हृदय हरनां सहस लोचन हू जए ।
 तिहं करहि प्रनाम जु प्रथम इंद्र उत्संग धरि प्रभु लीनीओ
 सौधर्म अरु ईशान इंद्र जु छत्र प्रभु शिर दीनीओ ॥६॥

सनतकुमार माहिंद चमर दोइ ढार हैं
 शेष शक्र जयजयरव शब्द उच्चारहैं ।
 उत्सव सहित चतुरबिध सुर हरखित भए
 जोजन सहस निन्याणूं सुर उल्लंघए ॥७॥

गए सुरगिरि जहां पांडुकबन बिचित्र बिराजए
 पांडुकसिला तिहां अर्धचंद्र समान रवि छबि छाजए ।
 जोजन पंचास बिसाल दुगुणायाम वसु ऊँची गने
 वर अष्टमंगल कनक कलस तिहां सिंहपीठ सुहावने ॥८॥

रचि मंडप सोभित मध्य सिंहासनं
 थाप्यो पूरवमुख तिहां प्रभु कमलासनं ।
 वाजत ताल मृदंग वयन घोषना थते
 दुंदुभि प्रमुख मधुर धुनि और जुं बाजते ॥९॥

बाजहिं निबाजहि सुचिय सच(ब?)मिली धवलमंगल गावहीं
 तहां करहिं नृत्य सुरंगना सब देव कौतुक आवहीं ।
 वर खीर सागर जल जु निरमल हाथ सुरगन लावहीं
 सौधर्म अरु ईशान इंद्रसु कलस लेइ प्रभु नावहीं ॥१०॥

बदन उदर अवगाह कलसगत जानीइं
 एक च्यार वसु जोजनमान प्रमानीइं ।
 सहस अट्टोत्तर कलस प्रभूजीके शिरें ढुरें
 फुनि शृंगार प्रमुख आचार सवें करें ॥११॥

करै प्रगट प्रभु महिमा महोत्सव आनि फुनि मातहि दयौ
 धनपतिहिं सेवा राखि सुरपति आप सुरलोकें गयौ ।

जनमाभिषेक महंत महिमा सुनत सब सुख पावहीं
त्रैलोक्यनाथ सुदेव जिनवर जगत मंगल गावहीं ॥१२॥

इति श्री जन्मकल्याणकं द्वितीयं ॥

॥ श्रम जल रहित शरीर सदा सविमल रह्यौ
खीरवरन वर-रुधिर प्रथम अक्षित लह्यौ ।
प्रथम ससिरसहि नान-सरूप बिराजहीं
सहज सुगंध सुलच्छन मंडित बाजहीं ॥१॥

बाजहीं अतुल बल परमप्रिय हित मधुर बचन सुहावने
दश सहज अतिशय सौभाग्य मूरति बाल लीला अति बने ।
याबाल त्रिकालपति मुनिरुचित उचित जु नित नए
अमरीपति तपति त अनुपम सकल भोग निभोग ए (?) ॥२॥

भव-तन-भोग-विरक्त कदाचित चितए
धन यौवन पिय पुत्त सकल अनित्य ए ।
कोउ न सरन मरन-दिन-दुख चिहुगति भर्यौ
सुख दुख भोक्ता एक जीव विधिवसि पर्यौ ॥३॥

पर्यौ विधिवसि आन चेतन आन जड जु कलेवरू
तन असुचि परतिहिं होइ आश्रव परहिं परिहर संवरू ।
निर्जरा तप बल होइ समकित बिन सदा त्रिभुवन भमे
दुर्लभ विवेक बिना न कबहूं परम धरम विषे रमे ॥४॥

ए प्रभु बारे पावन भावन भाईओ
लोकांतिक वर देव सुजोगें आईओ ।
कुसुमांजलि देइ चरनकमल सिर नाईओ
स्वयंबुद्ध प्रभु स्तुति करत हि समझाईओ ॥५॥

समझाय प्रभुकुं गए निज पद फुनि महोत्सव हरि कीओ
रुचि रुचिर चित्र विचित्र शिबिका करसुं नंदनवन लियो ।

तहां पंचमुष्ठी लोच कीओ प्रथम सिद्ध नती करी
मंडिय महाव्रत पंच दुद्धरस सकल परिग्रह परिहरी ॥६॥

मणिमय भाजन केस परीच्छय सुरपति
खीर समुद्र-जल खिपि करी गए अमरावती ।
तप संयमबल प्रभुकुं मनपरजय भयो
मौन सहित तप खप करिने लाल कछु तिहां गयो ॥७॥

गयो तिहां कछु काल तप बल रिद्ध वसु गुण सिद्ध ए
जसु धर्मध्यान बलेन खय गए सप्त प्रकृति प्रसिद्ध ए ।
खपि सातमे गुण जतन बिनु तिहां तीन प्रकृतियौ बुधि बढ्यौ
करि करण तीन प्रथम सकल बल क्षपक श्रेणें बल चढ्यौ ॥८॥

प्रकृति छत्रीस नवमे गुणठाणें विनासए
दशमे सूच्छिम लोभ प्रकृति तिहां आसए ।
शुकलध्यान पद दूजे फुनि प्रभु पूरीओ
बारसमे गुणे सोल प्रकृति तिहां चूरीओ ॥९॥

चूरीओ त्रेसठि प्रकृति एह बिधि घातीया करमह तणी
तप कीयो ध्यान परवान बारे विधि त्रिलोक शिरोमणी ।
निष्क्रमण-कल्याणक सुमहिमा सुनत सब सुख पाईए
त्रैलोक्यनाथ सुदेव जिनवर जगतमंगल गाईए ॥१०॥

इति श्री तृतीय कल्याणक ॥

॥ तेरसमे गुणठाणे सयोगि जिनेश्वरू
अनंतचतुष्टय मंडित भयो परमेश्वरू ।
समवसरण तव धनपति बहुबिधि निरमयो
आगमजुगति प्रमाण गगनतलि परिठयौ ॥१॥

परिठयौ चित्र विचित्र मणिमय सभामंडप सोहए
तिहां मध्य बारे बिने कोठे बनक सुरनर मोहए ।
मुनि कलपवासिनि आर्यिका तिहां युतिक भौम भुवनत्रिया
फुनि भौम भौमि सकल पसु नर पसु त्रिकोट ए बेठिया ॥२॥

मध्यपदेश तिहां मणिमय पीठ तिहां बनी
गंधकुटी सिंहासन कमल सोहावनी ।
तीन छत्र सिर शोभित त्रिभुवन मोहए ।
अंतरिक्ष कमलासन प्रभु तिहां सोहए ॥३॥

सोहए चौसठ चमर ढालत अशोकतरुवर छाजहीं
सुर पुष्प वरषित प्रभामंडल कोटि रवि छबि छाजहीं ।
इम अष्ट अनुपम प्रातिहारिज वरविभूति विराजही
इम घातिया खय जाति अतिशय दश विचित्र विराजही ॥४॥

सकल अरधमागधीय भाषा जानीइं
सकल जीव जगमैत्रीभाव बखानीइं ।
सविरतिग फल कुन बतिस नपति मनोहरे
दरपन सम बनि अविनि पवन गति अनुसरे ॥५॥

अनुसरे परमानंद सबकुं नारि नर जे सेवता
योजन प्रमाणे धरणि सुरचित रचहि मारुत देवता
तिहां करे मेघकुमार गंधोदक सुवृष्टि सोहावनी
पदकमल तलि सुर रचित कमलसु नव धरणि सोभा बनी ॥६॥

अमल गगनतलि और दीसैं तिहां अनुसारहीं
चतुर तिहां देवतन सुर आकारहीं ।
धर्मचक्र चले आगे रवि जिहां लाजहीं
फुनि भृंगार प्रमुख वस्तु मंगल राजही ॥७॥

राजहि ते चौदे चार अतिसय देवरचित सुहावने
जिनकेवलीके ग्यान महिमा और कहन कहा बनै ।
तब इंद्र आइ कीयो महोत्सव सभा शोभित अति बनी
धर्मोपदेश दीओ तिहां उछली वाणी जिनतणी ॥८॥

क्षुधा तृषा अरु रागद्वेष असोहावने
जनम जरा अरु मरन दोष भय आवने ।

रोग शोग भय विस्मय और निद्रा हनी
स्वेद सखेद मद मोह आरति चिंतागनी ॥९॥

गनी ए अद्गुरे दोष तिन कर रहित देव निवरेजनी
नव परम केवल लब्धि मंडित शिवरमनि मनरंजनी ।
श्रीग्यान कल्याणक सुमहिमा सुनत सब सुख पाईए
त्रैलोक्यनाथ सुदेव जिनवर जगत मंगल गाईए ॥१०॥

इति श्री चतुर्थकल्याणकं ॥

- ॥ केवल दृष्टि बराबर देख्यौ जारिसौ
भविजन प्रति उपदेश दीइ जिन तारिसौ ।
जे भवि नित्य भविकजन सरण जु आइआ
रतनत्रय गुणलछन शिवपथ लाइआ ॥१॥
- ते लाइयो पंथ जु भविक जन तिहां तृतीय सकल सिधारीयो
तिहां तेरहि गुण छांडि अयोगि पंथ पग धारीयौ ।
चौदमे चोथे सकलबल प्रभु बहुतर ते रहेती
एम घाति विसु विधि करम पोहोचे समयमे पंचमगती ॥२॥
- लोक शिखर तनुवात विलंबे ठीओ
धरम द्रव्य बन्यौ आगे गवन न तन कीओ ।
मदन रहित मेघोदर अंबर जारिसो
कर्म्मविहीन निज तन ते भयो प्रभु तारिसो ॥३॥
- तारिसौ परजय नित्य अविचल अरथ-परजय छनछए
इम नैव-दृष्टि अनंत-गुन व्यवहार-नैव सगुण मए ।
वस्तू-स्वभाव विभाव-विरहित शुद्ध परिणति परिणयौ
चिद्रूप परमानंद मंदिर शुद्ध परमात्म भयो ॥४॥
- तनु परिमाणु दामिनि पर सो विखर गए
रहे सिख-नख-केसरूप जे परिणए ।
तब हरि प्रमुख चतुर्विध सुरगण सुभ रच्यौ
मायामय नख केस सहित प्रभु तन रच्यौ ॥५॥

रचि अगर चंदन प्रमुख परिमल दर्भ जिन जयकारीयौ
पद पतित अगनिकुमार मुगटानिलसु विधि संस्कारीओ ।
निर्वाण कल्याणक सुमहिमा सुनत सब सुख पाईइं
त्रैलोक्यनाथ सुदेव जिनवर जगतमंगल गाईए ॥६॥

ते मतिहीन भगतिवसु भावना भाईए
मंगलगीत प्रबंधसु जिनगुन गाईए ।
जे नर सुनए बखांन सुर मधुर गावही
मनवंचित फल सो निश्चय पावही ॥७॥

पावहीं अष्टौसिद्धि नवनिधि मन प्रतीति जो आंनही
भ्रमभाव छूटे सकल मनके जिनस्वरूप सुना नहीं ।
फुनि टरहि पातक हरहि बिघन जुं वरहि मंगल नित नयौ
भनें रूपचंद सुदेव जिनवर देव चउसंघहि जयौ ॥८॥

इति श्री जिनानां पंचकल्याणकानि ॥

॥ लि । मुनि सरुपचंद गणिना मु । नेमसागर पठनार्थ ॥
बुधवासरे । सं. १८६८ ज्येष्ठ वदि अमवास्यां ॥



भिक्षा-विचार : जैन तथा वैदिक दृष्टि से

(‘उञ्छ’ शब्द के सन्दर्भ में)

डॉ. अनीता बोथरा*

भाण्डारकर प्राच्यविद्या संस्था में प्राकृत महाशब्दकोश के लिए विविध शब्दों की खोज करते हुए भिक्षावाचक बहुत सारे शब्द सामने आये। आचारांग, सूत्रकृतांग जैसे अर्धभागधी ग्रन्थों में, औपदेशिक जैन महाराष्ट्री साहित्य में, मूलाचार, भगवती आराधना जैसे जैन शौरसेनी ग्रन्थों में तथा अपभ्रंश, पुराण और चरित ग्रन्थों में भिक्षाचर्या के लिए उञ्छवृत्ति, पिंडेसणा, एसणा, भिक्खायरिया, भिक्खावृत्ति, गोयरी, गोयरचरिआ तथा महुकासमावृत्ति आदि शब्दों का प्रयोग किया हुआ दिखाई दिया। वैदिक परम्परा के श्रुति, स्मृति तथा पुराण ग्रन्थों में उञ्छवृत्ति, भिक्षाचर्या, भिक्षावृत्ति तथा माधुकरी ये चार शब्द भिक्षाचर्या के लिए उपयोजित किये हुए दिखाई दिये। उञ्छ तथा उञ्छवृत्ति इन शब्दों पर ध्यान केन्द्रित करके दोनों परम्पराओं के प्रमुख तथा प्रतिनिधिक ग्रन्थों में इस विषय की विशेष खोज की।

भारतीय संस्कृति कोश में वैशेषिक दर्शन के सूत्रकर्ता ‘कणाद’ के बारे में निम्नलिखित जानकारी मिलती है -

महर्षि कणाद खेत में गिरे हुए धान्यकण इकट्ठा करके जीवन निर्वाह करते थे, इसलिए वे कणाद, कणभक्ष तथा कणभुज् इन नामों से पहचाने जाते थे। वैशेषिक सूत्र की ‘न्यायकन्दली’ व्याख्या में यह स्पष्ट किया है (न्यायकन्दली पृष्ठ ४)। ‘कणाद’ के शब्द के स्पष्टीकरण से उञ्छवृत्ति का संकेत मिलता है।

जैन प्राकृत साहित्य :-

जैन प्राकृत साहित्य में कौन-कौनसे ग्रन्थों में कौन-कौनसे सन्दर्भ में उञ्छ या उञ्छ शब्द के समास प्रयुक्त हुए हैं इसकी सूक्ष्मता से जाँच की। निम्नलिखित प्राकृत ग्रन्थों से उञ्छ सम्बन्धी सन्दर्भ प्राप्त हुए।

*सन्मति-तीर्थ, फिरोदिया हॉस्टेल, ८४४, शिवाजीनगर, बी.एम्.सी.सी. रोड,
पुणे- ४११००४

अर्धमागधी ग्रन्थ :-

आचारांग पाया गया एक ही सन्दर्भ विशेष महत्त्वपूर्ण है। सूत्रकृतांग और स्थानांग में अल्पमात्रा में सन्दर्भ दिखाई दिये। प्रश्नव्याकरण की टीका का उच्च शब्द का स्पष्टीकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण लगा। उत्तराध्ययन में 'उच्च की एषणा' इस प्रकार का सन्दर्भ पाया। पिण्डेषणा या भिक्षाचर्या दशवैकालिक का महत्त्वपूर्ण विषय होने के कारण उसमें उच्च शब्द अनेकवार दिखाई दिया है। ओघनिर्युक्ति में उच्चवृत्ति के अतिचारों का सन्दर्भ मिला।

जैन महाराष्ट्री ग्रन्थ :-

आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्तिभाष्य, निशीथचूर्णि, वसुदेवहिण्डी, उपदेशपद, जंबुचरिय, कथाकोशप्रकरण, ज्ञानपञ्चमीकथा तथा अत्रायउच्चकुलकम् इन जैन महाराष्ट्री ग्रन्थों में उच्च सम्बन्धी उल्लेख उपलब्ध हुए।

जैन शौरसेनी तथा अपभ्रंश ग्रन्थों में 'उच्च' शब्द की खोज की। दोनों की उपलब्ध शब्दसूचियों में ये शब्द नहीं हैं। इन दोनों भाषाओं में प्रायः दिगम्बर आचार्यों ने ही बहुधा अपनी साहित्यिक गतिविधियाँ प्रस्तुत की हैं। हो सकता है कि उच्च शब्द से जुड़ी हुई वैदिक धारणाएँ ध्यान में रखते हुए उन्होंने उच्च शब्द का प्रयोग हेतुपुरस्सर टाला होगा। उच्च शब्द से जुड़े हुए अप्रासुक, सचित् वनस्पतियों के (धान्य के) सन्दर्भ ध्यान में रखते हुए आचारकठोरता का पालन करनेवाले दिगम्बर आचार्यों ने भिक्षावाचक अन्य शब्दों का प्रयोग किया लेकिन उच्चवृत्ति का निर्देश नहीं किया।

वैदिक साहित्य :

वैदिक साहित्य में लगभग १०० ग्रन्थों में उच्च तथा उच्च के समास पाये गये। तथापि प्राचीनता तथा अर्थपूर्णता ध्यान में रखते हुए निम्नलिखित ग्रन्थों में से सामग्री का चयन किया। चयन करते हुए यह बात भी ध्यान में आयी कि ऋग्वेद आदि चार वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् इन ग्रन्थों में उच्च शब्द का कोई भी प्रयोग दिखाई नहीं दिया। उच्च तथा उच्च के समास महाभारत के सभापर्व, आश्वमेधिकपर्व तथा शान्तिपर्व आदि पर्वों में विपुल मात्रा में उपलब्ध हुए। कौटिलीय अर्थशास्त्र में दो अलग अलग

अर्थों में ये शब्द पाया गया। मनुस्मृति में उच्छ्वृत्ति के बारे में काफी चर्चा की गई है। भागवदपुराण तथा ब्राह्मणपुराण में अत्यल्पमात्रा में प्रयोग उपलब्ध हुए। पुराणों में से शिवपुराण में सर्वाधिक सन्दर्भ दिखाई दिये।

दोनों परम्पराओं से प्राप्त इन सन्दर्भों का सूक्ष्मरीति से निरीक्षण यहाँ प्रस्तुत किया है। वैदिक परम्परा में 'उच्छ' शब्द का प्रयोग धातु (क्रियापद) तथा नाम दोनों में प्रयुक्त है। धातुपाठ में यह उपलब्ध है।^१ उच्छक्रिया का अर्थ 'धान्य कण के स्वरूप में इकट्ठा करना' (to gather, to collect, to glean) इस प्रकार है।^२ यशस्तिलकचम्पू में 'उच्छति चुण्टयति' (to pluck) इस अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग है।^३ 'उच्छ' क्रिया का सम्बन्ध वैयाकरणों ने 'ईष्' क्रियापद से जोड़ा है।^४ 'उच्छन' क्रिया से प्राप्त जो भी धान्य कण है उस समूह को 'उच्छ' कहा गया है।

जैन परम्परा के प्राकृत ग्रन्थों में उच्छ क्रिया का 'क्रिया स्वरूप' में प्रयोग अत्यल्प मात्रा में दिखाई दिया। जो भी सन्दर्भ पाए गये वे सभी 'नाम' ही हैं। कहीं भी धान्य कण अथवा पत्र-पुष्प आदि का जिक्र नहीं किया है। 'भिक्षु द्वारा एकत्रित की गई साधु प्रायोग्य भिक्षा', इस अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में से उपलब्ध संदर्भों का चयन करने से 'उच्छ' का जो एक समग्र चित्र सामने उभर कर आता है वह इस प्रकार है। चान्द्र व्याकरण में उच्छ क्रिया का प्रयोग 'इकट्ठा करना' इस सामान्य अर्थ में है। यहाँ कहा गया है कि, बेटों को चुननेवाला बदरिक कहलाता है।^५ कौटिलीय अर्थशास्त्र में कहा है कि उच्छजीवि आरण्यक, राजा को कररूप में उच्छषड्भाग अर्पित करते हैं। यहाँ भी सिर्फ इकट्ठा करना अर्थ ही है।^६

१. धातुपाठ - ७.३६, २८.१३

२. पाणिनी-४.४.३२; दण्डविवेक १ (४४.४); जैनेन्द्रव्याकरण ३.३.१५५ (२१४.१५)

३. यशस्तिलकचम्पू-१.४४९.६

४. सिद्धान्तकौमुदी-६.१.८९; दैवव्याकरण १६९

५. चान्द्रव्याकरण - ३.४.२९

६. कौटिलीय अर्थशास्त्र १.१३

रामायण में यद्यपि उच्छ्वृत्ति के सन्दर्भ अत्यल्प हैं तथापि इस व्रत की दुष्करता उसमें अधोरेखित की गई है ।^{१०} उच्छ्वृत्ति का आचरण करनेवाले को 'उच्छशील' कहते हैं ।^{११} लेकिन 'उच्छशिल' ऐसा भी शब्द प्रयोग देखा जाता है ।^{१२} 'उच्छ' का मतलब है मार्ग में या खेत में गिरे हुए धान्य कण इकट्ठा करना और 'शिल' का अर्थ है धान्य के भुट्टे इकट्ठे करना । इन दोनों को मिलकर 'ऋत' संज्ञा दी है ।^{१३} उच्छजीविका^{१४} उच्छजीविकासम्पन्न^{१५} उच्छधर्मन्^{१६} उच्छ्वृत्ति^{१७} आदि शब्द प्रयोग उन लोगों के बारे में आये हैं जिन्होंने धान्यकण इकट्ठा करके उन पर उपजीविका करने का व्रत स्वीकार किया है ।

उच्छ्वृत्ति व्रत विप्र, ^{१८}ब्राह्मण^{१९} तथा गृहस्थ^{२०} स्वीकार करते हैं । इसका मतलब यह हुआ कि गृहस्थाश्रमी लोग यह व्रत धारण करते थे । आश्वमेधिकपर्व में एक विप्र की पत्नी, पुत्र तथा पुत्रवधू के द्वारा भी यह व्रत ग्रहण करने का उल्लेख है ।^{२१} मुनि^{२२} तथा तापस^{२३} भी इस व्रत को ग्रहण करते थे । अर्थात् वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में भी उच्छ्वृत्ति के द्वारा उपजीविका करने का प्रघात था ।

-
७. अयोध्याकाण्ड-२.२१.२ (ड)
 ८. अमरकोश - २, ९, २
 ९. वाराहगृह्यसूत्र - ९.२; भागवदपुराण-७.११.१९; मनुस्मृति-४.५; सांख्यायनगृह्यसूत्र-४.११.१३
 १०. मनुस्मृति-४.५
 ११. लिङ्गानुशासन, हेमचन्द्र-११३.१६; परमानन्दनाममाला ३६९९; स्कन्दपुराण-३.२.३३
 १२. अभयदेव-स्थानांग टीका २६७ब.५
 १३. आरण्यकपर्व-३.२४६.२१
 १४. वैखानसधर्मसूत्र-१.५.५
 १५. आश्वमेधिकपर्व-१४.९३.७; विष्णुधर्मोत्तरपुराण-३.२३७.२८
 १६. महाभाष्य - १.४.३; ३१३.१३
 १७. शान्तिपर्व-१२.१८४.१८
 १८. आश्वमेधिकपर्व-अध्याय ९३
 १९. आरण्यकपर्व-३.२४६.१९; शब्दरत्नसमन्वयकोश-७४.७; ३००.१७; सांख्यायनगृह्यसूत्र-४.११.१३; शान्तिपर्व-३६३-१,२
 २०. बृहत्कथाकोश-६६.३४

उच्छ्व्रत में धान्यकण या धान्यबीज खेतों से इकट्ठा करते थे।^{११} जो धान्यकण या बीज भुट्टों से खेत में पड़कर गिरे हुए हैं वे एक-एक करके चुने जाते थे।^{१२} इस व्रत के धारक लोग पतित तथा परित्यक्त धान्य कण भी इकट्ठा करते थे।^{१३} इसके लिए क्षेत्र स्वामी की अनुमति नहीं मानी गई थी।^{१४} खलिहान में बचे हुए धान्यकण भी लेने की विधि दी है।^{१५} धान जब खेत से बाजार तक ले जाया जाता है तब भी बहुत से धान्यकण गिरते हैं। इसलिए रास्ते से या बाजार से भी इकट्ठे किये जा सकते थे।^{१६} एक जगह से कितने धान्यकण इकट्ठे किये जायें इसका भी प्रमाण निश्चित किया है। एक एक धान्यकण चुनके एक जगह से एक मुट्ठी धान्य ही इकट्ठा किया जाता था। इसके लिए कुन्ताग्र^{१७} गुटक^{१८} इन शब्दों का प्रयोग किया गया है, अनेक जगहों में अल्पमात्रा में उच्छ्व्रहण करने का विधान है।^{१९} इसका कारण यह है कि किसी को भी इस ग्रहण से पीडा न हो।^{२०} चरक संहिता में शोधनी से धान्यकण इकट्ठे करने का उल्लेख है।^{२१} उच्छ्वृत्ति से इकट्ठे किये धान्य का पिष्ठ बनाया जा सकता था तथा पानी में मिलाकर काँजी वगैरह बनाई जाती थी।^{२२} रसास्वाद के लिए उसमें नमक आदि चीजें

-
२१. मनुस्मृति टीका (सर्वज्ञानारायना) १०.११०; कौटिलीय अर्थशास्त्र अध्याय-४५, पृष्ठ ६१
२२. काशिका-४.४.३२; ६.१.१६०; अपरार्क ऑफ याज्ञवल्क्यस्मृति - १६७.३; स्मृतिचन्द्रिका - II 451.16
२३. दण्डविवेक - १(४४.४); अपरार्क ऑफ याज्ञवल्क्यस्मृति-१६७.३; स्मृतिचन्द्रिका - II 451.16
२४. मनुस्मृति - टीका (सर्वज्ञानारायना) १०.११२
२५. दण्डविवेक - १(४४.४); चन्द्रवृत्ति-१.१.५२
२६. मनुस्मृति - टीका (सर्वज्ञानारायना) ४.५; भागवदपुराण- ७.११.१९
२७. पाण्डवचरित-१८.१४३
२८. दीपकलिका ऑन याज्ञवल्क्यस्मृति - १.१२८ (१७.१७)
२९. हारलता - ९.८.९; अभयदेव-स्थानांगटीका - २१३अ. १२
३०. मनुस्मृति - ४.२
३१. चरकसंहिता - ८.१२.६६(८५)
३२. शिवपुराण - ३.३२.६; आश्वमेधिकपर्व - ९३.९

मिलाने का कहीं उल्लेख नहीं है इसलिए उच्छ्वृत्ति के लोग नीरस आहार का ही सेवन अल्पमात्रा में करते थे ऐसा प्रतीत होता है। शिवपुराण में उच्छ से अर्जित द्रव्य का भी उल्लेख वैशिष्ट्यपूर्ण है। उस द्रव्य को शुद्ध द्रव्य कहा है। शुद्ध द्रव्य का दान देने से हुई पुण्यप्राप्ति का भी वहाँ जिक्र किया है।^{३३}

उच्छ्वृत्ति से रहनेवाले लोगों के लिए खग^{३४} तथा कबूतर^{३५} की उपमा भी प्रयुक्त की है। उच्छशीलवृत्ति को 'कापोतव्रत' भी कहा है।^{३६} जो मुनि या तापस खेती-बाड़ी से दूर अरण्यों में निवास करते थे वे आरण्य से निसर्गतः प्राप्त फल, कन्द, मूल, पत्ते आदि पर भी उपजीविका करते थे। उन्हें भी उच्छजीवी कहा है।^{३७}

महाभारत के सभापर्व में उच्छ्वृत्तिधारी चार राजाओं का निर्देश है। अनेक नाम हैं - हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, शिबि और बलि।^{३८} आश्वमेधिक पर्व तथा शान्तिपर्व में दो बड़े बड़े बहुत विस्तृत उपाख्यान आये हैं। उनका नाम ही 'उच्छ्वृत्तिउपाख्यान' है। उच्छ्वृत्ति से अर्जित उपजीविका साधनों का अगर दान दिया तो व्रतधारी को अनशन ही होता है। उसका फल यज्ञ से भी अधिक कहा है। स्वर्गप्राप्ति भी कही है।

नमूने के तौर पर वैदिक परम्परा के ये जो उल्लेख दिये हैं उससे सिद्ध होता है कि 'व्रत के स्वरूप वैदिकपरम्परा में' इस विधि का प्रचलन अत्यधिक था। जैनपरम्परा में भी उच्छ शब्द का प्रयोग तो पाया जाता है। लेकिन उसका स्वरूप पहले देखेंगे और बाद में शोधनिबन्ध के निष्कर्ष तक जायेंगे।

प्राकृत साहित्य में कालक्रम से तथा भाषाक्रम से कौन-कौन से ग्रन्थों

-
३३. शिवपुराण - १.१५.३९
 ३४. बुद्धचरित - ७.१५
 ३५. आश्वमेधिकपर्व - ९३.२
 ३६. आश्वमेधिकपर्व - ९३.५
 ३७. ब्रह्माण्डपुराण - १.३०.३६
 ३८. सभापर्व - २.२२५.७

में 'उच्छ' शब्द का प्रयोग हुआ है और किस अर्थ में हुआ है तथा व्याख्या, टीका आदि में उनका स्पष्टीकरण किस तरह दिया गया है यह प्रथम देखेंगे।

आचारांग अंग आगम के दूसरे श्रुतस्कन्ध में 'उच्छ' शब्द का प्रयोग केवल भिक्षा से सम्बन्धित न होकर भिक्षा के साथ-साथ छादन, लयन, संधार, द्वार, पिधान और पिण्डपात इनसे जुड़ा हुआ है। इधर केवल यह अर्थ निहित है कि उपर्युक्त सब चीजें साधु प्रायोग्य और प्रासुक होना आवश्यक है। टीकाकार अभयदेव ने कहा है कि - 'उच्छं इति छादनाद्युत्तरगुणदोषरहितः'^{३९}

सूत्रकृतांग के पहले श्रुतस्कन्ध में 'उच्छ' शब्द का अर्थ 'बयालीस दोषों से रहित आहार ग्रहण करना' ऐसा दिया है।^{४०} शीलाङ्गाचार्य ने सूत्रकृतांग १.७.२७ की वृत्ति में 'अज्ञातपिण्ड' का अर्थ अन्तप्रान्त (बासी) तथा पूर्वापर अपरिचितों का पिण्ड, इस प्रकार का स्पष्टीकरण किया है।

सूत्रकृतांग की चूर्णि में 'उच्छ' के द्रव्यउच्छ (नीरस पदार्थ) और भावउच्छ (अज्ञात चर्या) ऐसे दो भेद किये हैं।^{४१} वृत्तिकार ने इसका अर्थ-भिक्षा से प्राप्त वस्तु ऐसा किया है।

स्थानांगसूत्र में उच्छजीविकासम्पन्न और जैन सिद्धान्तों के प्रज्ञापक साधु का निर्देश है।^{४२}

प्रश्नव्याकरण के संवद्धार के पहले अध्ययन में अहिंसा एक पञ्चभावना पद के अन्तर्गत आये हुए 'आहारएसणाए सुद्धं उच्छं गवेसियव्वं'^{४३} इस पद से यह कहा है कि साधु शुद्ध, निर्दोष तथा अल्पप्रमाण में आहार की गवेषणा करे।

प्रश्नव्याकरण के टीकाकार ने उच्छगवेषणा शब्द पर विशेष प्रकाश डाला है। कहा है कि, 'उच्छे गवेषणीय इति सम्बन्धः, किमर्थमत आह पृथिव्युदकाग्निमारुततरुगणत्रसस्थावरसर्वभूतेषु विषये या संयमदया-संयमात्मिका

३९. आचारांग टीका ३६८ब.१२

४०. सूत्रकृतांग-१.२.३.१४; सूत्रकृतांग टीका - ७४ब.११

४१. सूत्रकृतांग चूर्णि - पृ. ७४

४२. स्थानांग-४.५२८

४३. प्रश्नव्याकरण टीका - ६.२०

घृणा न तु मिथ्यादृशामिव बन्धात्मिका तदर्थ-तद्धेतो-शुद्धः-अनवद्यः उज्जो भैक्षं गवेषयितव्यः ।^{४४}

इससे स्पष्ट होता है कि वैदिकों की तरह खेत में जाकर तथा अरण्य में जाकर धान्य, फल, फूल, पत्ते आदि इकट्ठा करना टीकाकार को मान्य नहीं है। यह सन्दर्भ इस शोधनिबन्ध के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

उत्तराध्ययन इस मूलसूत्र के ३५वें 'अणगारमार्गगति' अध्ययन में 'उज्ज' शब्द का अर्थ अलग-अलग घरों से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में तथा उद्गमादि दोषों से रहित लाई हुई भिक्षा, ऐसा टीका के आधार से भी जान पड़ता है ।^{४५}

उज्ज शब्द के सबसे अधिक सन्दर्भ दशवैकालिक सूत्र में दिखाई देते हैं। इसमें उज्ज शब्द तीन बार 'अत्राय' के साथ^{४६} और दो बार स्वतन्त्र रूप से आया है ।^{४७} निशीथचूर्णि में भी 'अत्रायउज्जिओ साहू' इस प्रकार का विशेषणात्मक प्रयोग दिखाई देता है ।^{४८} ओघनिर्युक्ति भाष्य ९६ में 'अण्णाउज्जं' शब्द का प्रयोग हुआ है।

'अत्राय' अर्थात् अज्ञात इस शब्द का स्पष्टीकरण दशवैकालिक टीका तथा दशवैकालिक के दोनों चूर्णिकारों ने विशेष रूप से दिया है। हरिभद्रीय टीका में कहा है - 'उज्जं भावतो ज्ञाताज्ञातमजल्पनशीलो धर्मलाभमात्राभिधायी चरेत् ।'^{४९}

जिनदासगणि ने चूर्णि में कहा है-

'भावुंजं अत्रायेण, तमत्रायं उज्जं चरति ।'^{५०}

अगस्त्यसिंह की चूर्णि में तीन-चार प्रकार से इसका स्पष्टीकरण

४४. प्रश्नव्याकरण टीका १०७ब. १३ ते १५

४५. उत्तराध्ययन ३५.१६; उत्तराध्ययन टीका - ३७५ अ.९

४६. दशवैकालिक - ९.३.४; १०.१९; दश.चूर्णि २.५

४७. दशवैकालिक - ०.२३; १०.१७

४८. निशीथचूर्णि - २.१५९.२३

४९. दशवैकालिक टीका - २३१ब.७

५०. दश.जिनदासगणि चूर्णि - पृ. ३१९

दिया है।^{५१} अन्तिमतः अज्ञात शब्द का तात्पर्य यह फलित होता है कि खुद का परिचय दिये बिना तथा अपरिचित कुलों से अल्पप्रमाण में उच्छ की गवेषणा करनी चाहिए। प्रचलित छन्द शब्द का प्रयोग नये अप्रचलित अर्थ से करने के लिए 'अत्रायउच्छं' शब्द के इतने सारे स्पष्टीकरण दिखाई देते हैं।

वसुदेवहिण्डी में एक जैन साधु ने उच्छवृत्तिधारक ब्राह्मण^{५२} गृहस्थद्वारा भिक्षा ग्रहण करने का महत्त्वपूर्ण उल्लेख पाया जाता है। चूँकि साधु ने इस प्रकार के गृहस्थ से भिक्षा ली, इसका मतलब यह हुआ कि उसने यह भिक्षा प्रासुक और एषणीय मानी। इसके सिवा ब्राह्मण की साधु के प्रति परमश्रद्धा होने का उल्लेख है। इसमें दोनों परम्पराओं की एक-दूसरे के प्रति आदर रखने की यह भावना निश्चित रूप से स्पृहणीय है।

कथाकोशप्रकरण में एक स्थविरा के द्वारा उच्छवृत्ति से काष्ठ इकट्ठा करने का उल्लेख है।^{५३} इसका मतलब यह हुआ कि, 'केवल भिक्षा के लिए ही नहीं, अन्य चीजों के लिए भी इकट्ठा करना' यह उच्छ शब्द का प्रयोग दिखाई देता है।

आवश्यक निर्युक्ति १२९५ में नारद-उत्पत्ति की एक कथा दी गई है। उसमें कहा है कि यज्ञयश तापस का यज्ञदत्त नाम का पुत्र और सोमयशा नाम की स्तुषा थी। उनका पुत्र नारद था। वह पूरा कुटुम्ब उच्छवृत्ति से निर्वाह करता था। उसमें भी वे लोग एक दिन उपवास और एव दिन भोजन लेते थे।

ज्ञानपञ्चमी कथा में अरण्य से उच्छादिक ग्रहण करके अपनी पत्नी को देनेवाले पद्मनाभ नामक ब्राह्मण की कथा आयी है।^{५४} इससे स्पष्ट होता है कि वैदिकों की उच्छवृत्ति से जैन आचार्य काफी परिचित थे। और अरण्य से उच्छवृत्ति लाने के उल्लेख से कन्दमूल, फल, फूल, पत्ते आदि ग्रहण करने

५१. दश. अगस्त्यसिंह चूर्णि-८.२३; ९.३.४; १०.१६; चूलिका २.५

५२. वसुदेवहिण्डी पृ. २८४

५३. कथाकोशप्रकरण - पृ. ३१.२३

५४. ज्ञानपञ्चमीकथा-७.४

का वैदिक परम्परा का संकेत भी यहाँ मिलता है ।

जम्बुचरित ग्रन्थ में उञ्छशब्द में भिक्षा का प्रमाण बताने के लिए दो शब्दों का प्रयोग किया है । शकट के अक्ष के अग्रभाग जितनी तथा व्रण के उपर लगाये जानेवाली लेप जिनती ।^{५५}

वैदिक परम्परा के पाण्डवचरित ग्रन्थ में जिसप्रकार कुन्ताग्र शब्द का प्रयोग किया है उसी तरह का यह स्पष्टीकरण है ।^{५६}

उपदेशपद में हरिभद्र ने उञ्छ शब्द को शुद्ध विशेषण लगाया है ।^{५७} और शुद्ध का स्पष्टीकरण बयालीस दोषों से रहित दिया है । इसका मतलब यह हुआ कि 'केवल भिक्षा' इतने अर्थ में भी 'उञ्छ' शब्द का प्रयोग होता था ।

लगभग १६वीं शती के आसपास जैन आचार्यों द्वारा जो प्रकरण ग्रन्थ या लघुग्रन्थ लिखे गये उनमें श्री विजयविमलगणिकृत 'अन्नायउञ्छकुलकं' प्रकरण का समावेश होता है । आहारशुद्धि, आहार के अतिचार आदि का प्रतिपादन करनेवाला यह संग्रहग्रन्थ है । भिक्षावाचक सारे दूसरे नाम दूर रखते हुए इन्होंने 'अन्नायउञ्छकुलकं' शीर्षक अपने कुलक के लिए चुना यह भी एक असाधारण बात है । 'अज्ञातउञ्छ' का मतलब वे बताते हैं - 'अन्नावर्जनादिना भावपरिशुद्धस्य स्तोक-स्तोकस्य ग्रहणं, अज्ञातो उञ्छग्रहणम् ।' **बौद्ध जातकों में उञ्छचरिया-**

बौद्ध (पालि) ग्रन्थों में भिक्षाचार्य के लिए 'उञ्छ' शब्द का प्रयोग किया गया है या नहीं यह देखने हेतु मुख्यतः जातककथाग्रन्थ देखे विविध जातकों में कमसे कम २५ बार उञ्छचरिया, उञ्छापत्त, उञ्छापत्तागत इन शब्दों के प्रयोग मिलते हैं । यहाँ विविध स्थानों पर ब्राह्मण तापस के उञ्छाचार्या का निर्देश है । तथा बौद्ध भिक्षु (तापस, ऋषि) के उञ्छ का निर्देश है । अनेक बार वन में जाकर फलमूल भक्षण करना तथा बाद में गाँव-शहर आदि में आकर नमक तथा खट्टा (मतलब पका हुआ रसयुक्त भोजन) भोजन भिक्षा

५५. जम्बुचरित-१२.५४

५६. पाण्डवचरित-१८.१४३

५७. उपदेश पद - गा. ६७७

में ग्रहण करने का उल्लेख है। मतलब यह हुआ कि बौद्ध परम्परा में उच्छ के वैदिक तथा जैन दोनों अर्थ समानता से ग्रहण किये हैं। बौद्ध भिक्षु वनों से कन्द-मूल, फल ग्रहण करते थे तथा विकल्प से घरों से पकी हुई रसोई का भी स्वीकार करते थे।

उपसंहार

वैदिक (संस्कृत) तथा प्राकृत (जैन) ग्रन्थों में पाये गये उच्छ सम्बन्धी सन्दर्भों का अवलोकन करके हम निम्नलिखित साम्य-भेदात्मक उपसंहार तक पहुँचते हैं।

साम्य संकेत :

दोनों परम्पराओं में 'उच्छ' इस धातु का 'इकट्टा करना' (to glean, to collect, to gather) इतना ही मूलगामी अर्थ है। चान्द्रव्याकरण में तथा जैन महाराष्ट्री कथाकोश प्रकरण में इस मूलगामी अर्थ से इस धातु का प्रयोग पाया जाता है।

- * यह इकट्टा करने की या चुनने की क्रिया अलग-अलग स्थान से अल्पमात्रा में ग्रहण करने का संकेत देती है। वे धान्य के कण हो या भिक्षा हो अलग-अलग स्थानों से अल्पमात्रा में ग्रहण की जाती है। अल्पग्रहण की मात्रा का सूचन करनेवाली उपमा भी दोनों प्रायः समान है। जैसे कि प्रमाण के लिए कुन्ताग्र या व्रणलेप तथा प्रवृत्ति की सूचक कबूतर या मधुकर।
- * वैदिक परम्परा का तापस तथा गृहस्थ खुद जाकर उच्छ द्रव्य लाता है, उसी प्रकार जैन साधु भी स्वयं जाकर गृहस्थ से उच्छ लाता है।
- * उच्छवृत्ति का एक बार स्वीकार किया तो दोनों परम्परानुसार उसका पालन आजीवन करना पडता है।
- * उच्छ (भिक्षा) अगर प्राप्त नहीं हुई तो दोनों उस दिन अनशन ही करते हैं।

भेदसंकेत :

- * यहाँ प्रयुक्त उच्छ शब्द वैदिकों की उच्छवृत्ति का निदर्शक है तथा जैन

साधु की भिक्षा का वाचक है ।

* उच्छवृत्ति व्रतस्वरूप है । माँगकर लाई जानेवाली भिक्षा नहीं है । जैन साधु खुद गृहस्थ के घर जाकर भिक्षा (उच्छ) माँगकर लाते हैं ।

उच्छ व्रत साधु और गृहस्थ दोनों के लिए है । भिक्षा व्रत सिर्फ साधुओं के लिए है । वैदिक परम्परा में उच्छवृत्ति व्रतस्वरूप है । जैन परम्परा में यह साधु का नित्य आचार है ।

* उच्छ में धान्य कण, भुट्टे तथा वृक्षों से कन्दमूल, फल, फूल, पत्ते आदि का ग्रहण होता है । भिक्षा में गृहस्थ के द्वारा गृहस्थ के लिए बनाई हुई रसोई से साधु प्रायोग्य आहार का विधिपूर्वक ग्रहण होता है । जैन सन्दर्भ में 'उच्छ' शब्द का प्रयोग आहार के अलावा छादन, लयन, संस्तारक, द्वारपिधान आदि के बारे में भी प्रयुक्त किया गया है ।

* उच्छवृत्ति में अग्निप्रयोग न की हुई खाने की चीजें लाई जाती हैं । उच्छवृत्ति का धारक कभी भी पकाया हुआ आहार नहीं ला सकता । उच्छवृत्ति से लाए गये सभी पदार्थ जैन दृष्टि से सचित्त है और जैन साधु को कभी भी कल्पनीय नहीं है । भिक्षा में अग्निप्रयोग के बिना, किसी भी वस्तु को सचित्त और अप्रासुक माना है ।

* उच्छवृत्ति से लाया गया धान्य आदि पीसना, पकाना आदि क्रिया खुद उच्छवृत्ति धारक करता है । भिक्षावृत्ति से लाये हुए आहार पर जैन साधु किसी भी तरह का संस्कार नहीं करता है ।

* उच्छवृत्ति से लाये गये धान्य आदि का संग्रह किया जा सकता है । भिक्षा का संग्रह नहीं किया जाता ।

* संगृहीत उच्छ का 'सत्पात्र व्यक्ति को दान देना', पुण्यशील कृत्य माना गया है । साधु के द्वारा लाई गई भिक्षा का अन्य साधुओं के साथ अगर संविभाग भी किया तो उसको दान संज्ञा प्राप्त नहीं होती ।

* उच्छवृत्ति से भिक्षा लाने के पहले किसी भी मालिक की अनुमति नहीं ली जाती । इसके विपरीत मालिक की अनुमति के बिना जैन साधु सुई भी अपने मन से उठा नहीं सकता । अगर कोई भी चीज अनुमति

बगैर उठाए तो उसके अचौर्य व्रत का भंग (अदत्तादान) होता है ।

निष्कर्ष :

साम्य-भेदात्मक निरीक्षणों के आधार से हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि जैन प्राकृत ग्रन्थों में प्राप्त 'उच्छ' शब्द निश्चित ही वैदिक परम्परा से लिया गया है । उच्छवृत्तिधारी व्यक्ति समाज के लिए बहुत ही पूजनीय और आदरास्पद रहा होगा । इसी वजह से जैनों ने साधु के बारे में भी उच्छ शब्द का प्रयोग किया होगा । वैदिकों से उच्छ शब्द का तो ग्रहण किया लेकिन जैन परम्परा में प्राप्त साधु-आचार विषयक नियमों से वे प्रमाणिक रहे ।

- * उच्छ शब्द मूलतः कृषि से सम्बन्धित है । बालें या भुट्टों को काटा जाता है उसे 'शिल' कहते हैं और नीचे गिरे हुए धान्यकणों को एकत्र करने को 'उच्छ' कहते हैं । यह शब्द अर्थ का विस्तार पाते-पाते भिक्षा से जुड़ गया और खाने के बाद रहा हुआ शेष भोजन लेना, घर-घर से थोड़ा-थोड़ा भोजन लेना, इसका वाचक बन गया । और सामान्यतः भिक्षा, पिण्डैषणा, एषणा, गोचरी आदि का पर्यायवाची जैसा बन गया ।
- * वैदिक तथा जैन दोनों अर्थ समानतासे ग्रहण किये हैं । बौद्ध भिक्षु वनों से कन्द-मूल, फलग्रहण करते थे तथा विकल्प से घरों से पकी हुई रसोई का भी स्वीकार करते थे ।
- * वैदिक परम्परा में उच्छव्रतधारी साधु या गृहस्थ वर्तमान स्थिति में दिखाई देना कठिनप्रायः हो गया है । लेकिन साधुप्रयोग उच्छ (भिक्षा) ग्रहण करनेवाले साधु-साध्वियों का भारतीय समाज में होना आज भी एक आम बात है । उच्छ शब्द के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सामने आता है कि जैन समाज में आचार की प्रथा अविच्छिन्न रखने का प्रयास यत्नपूर्वक किया जाता है ।



जैन और वैदिक परम्परा में वनस्पतिविचार

(इन्द्रियों के सन्दर्भ में)

डॉ. कौमुदी बलदोटा*

प्रस्तावना :

दैनंदिन व्यवहार में वनस्पतियों का उपयोग तथा उनसे वर्तनव्यवहार के बारे में जैन और वैदिक परम्परा में काफी अन्तर दिखाई देता है। रसोई की जैन पद्धति में हरा धनिया, हरी मिर्च, हरी मीठीनीम, ताजा नारियल आदि का उपयोग बहुत कम है। सूखे मसाले ज्यादातर पसंद किया जाते हैं। धार्मिक मान्यताएँ ध्यान में रखकर सब्जियाँ चुनी जाती हैं। आलू, रतालू आदि कन्दों का इस्तेमाल निषिद्ध माना जाता है। आज की हिन्दु जीवनपद्धति में आलू-रतालू आदि उपवास के दिन खासकर उपयोग में लाये जाते हैं। प्राचीन काल में अरण्यवासी ऋषिमुनि कन्दमूल, पत्ते, फल आदि का उपयोग आहार में करते थे, ऐसे सन्दर्भ साहित्य में उपलब्ध हैं। हिन्दु पौराणिक पूजा पद्धति में ताजे फूल और पत्ते ज्यादा मायने रखते हैं। विष्णु, शिव, देवी, गणपति आदि देवताओं को विशिष्ट रंग के तथा सुगन्ध के फूल तथा पत्ते चढाए जाते हैं। ताजा नारियल फोडकर चढाया जाता है। श्वेताम्बर मन्दिरमार्गीयों के सिवाय किसी भी जैन सम्प्रदाय की पूजा तथा आराधना पद्धति में ताजा फूल-पत्ते तथा नारियल का इस्तेमाल नहीं होता। नारियल अगर चढावें तो फोडे नहीं जाते। दिगम्बर सम्प्रदाय में तो सूखे नारियल और सूखा मेवा (काजू, बादाम आदि) चढाने का प्रावधान है। बगीचे, उद्यान आदि बनाना, पेड़ों की ऋतु के अनुसार कटाई आदि करना, बेल-तुलसी-हरी पत्ती चाय, ताजा अदरक, बकुल के फूल आदि उबालकर काढा (कषाय) बनाकर रोगों का इलाज करना आदि सैकड़ों बातें हिन्दु जीवनपद्धति में बिलकुल आम हैं। तुलसी, वड, पीपल, औदुम्बर आदि वृक्ष धार्मिक दृष्टि से पवित्र मानकर पूजा जाते हैं। जैन जीवनपद्धति में किसी भी व्रत या त्यौहारों में वृक्षों की पूजा नहीं की जाती।

* सन्मति-तीर्थ, फिरोदिया होस्टेल, ८४४, शिवाजीनगर, बी.एम.सी.सी. रोड, पुणे-४११००४

विषय (व्याप्ति तथा मर्यादा) :

दोनों परम्पराओं में वनस्पतियों के बारे में इतना अलग-अलग व्यवहार और मान्यताएँ क्यों हैं ? तत्त्वप्रधान तथा आचारप्रधान ग्रन्थों में इसका रहस्य निहित है। इस शोधनिबन्ध में वनस्पति की सजीवता तथा वनस्पति में इन्द्रियों की उपस्थिति इन मुद्दों को ध्यान में रखकर छानबीन की गयी है। जैनियों के प्राचीन ग्रन्थ प्राकृत में होने के कारण तथा प्राकृत की विद्यार्थिनी होने के नाते मुख्यतः आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम और त्रिलोकप्रज्ञप्ति, मूलाचार एवं गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ये शौरसेनी ग्रन्थ वनस्पतिविवेचन के बारे में आधारभूत मानकर विश्लेषण का प्रयास किया है।

वैदिक परम्परा के दर्शन ग्रन्थों में केवल सांख्य-दर्शन में वनस्पति विचार है। वह भी अत्यल्प मात्रा में है। चारों वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में वनस्पति और औषधियों का जिक्र तो किया है लेकिन तात्त्विक विश्लेषण बहुत कम है। उपनिषदों में दिया हुआ सृष्टि के आविर्भाव का क्रम काफी लक्षणीय है। वनस्पति की स-इन्द्रियता और निरिन्द्रियता की चर्चा महाभारत के शान्तिपर्व के एक संवाद में काफी हद तक की गई है। चरकसंहिता में वनस्पतियों का वर्गीकरण, नाम तथा गुणधर्म विस्तार से दिये हैं, औषधियाँ बनाने की प्रक्रियाएँ भी विपुल मात्रा में दी हैं, लेकिन उनकी सजीवता, इन्द्रियाँ होना या न होना इनका जिक्र बिलकुल ही नहीं है। निघण्टु तो वनस्पतिसूचि है।

इस निबन्ध को वैज्ञानिक मूल्य प्राप्त कराने हेतु विशेष प्रयास किये हैं। वनस्पतिशास्त्र के प्राध्यापकों से इस विषय की विस्तृत चर्चा की है। बॉटनी तथा इकॉलॉजी के ग्रन्थों की नामावली सन्दर्भग्रन्थसूचि में दी है।

(१) वनस्पति की उत्पत्ति-

वैदिकों ने सृष्टि की उत्पत्ति का विशिष्ट क्रम स्वीकार किया है। 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्यः अन्नं। अन्नात् पुरुषः।^१ यह क्रम

प्रायः वैज्ञानिक मान्यता से मेल खाता है। फर्क केवल इतना ही है कि आकाश की उत्पत्ति आत्मा परमात्मा और परमेश्वर से जोड़ना विज्ञान को मंजूर नहीं। ये पाँच महाभूत हैं और वे जड हैं।

जैन दृष्टि से लोक जीव एवं अजीव इन दो (राशि) द्रव्यों से व्याप्त है।^१ इनमें से जीवद्रव्य के इन्द्रियानुसारी पाँच भेद हैं। उनमें एकेन्द्रिय जीव पाँच हैं। जैसे कि पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तेजसकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक।^२ सूत्रकृतांग में कहा है कि पानी, हवा, आकाश, काल और बीज का संयोग होने पर ही वनस्पति की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं।^३ यह मत भी वैज्ञानिक दृष्टि से उचित है। लेकिन इन सबको एकेन्द्रिय कहना और स्वतन्त्र जाति मानना जैनदर्शन की विशेषता है। पाँचों एकेन्द्रिय की उत्पत्ति एक दूसरे से नहीं हुई है। जगत् परिवर्तनशील है और अनादिनिधन है।^४ इसका मतलब यह हुआ कि ये पाँचों एकेन्द्रिय पहले से ही सृष्टि में मौजूद हैं।

(२) वनस्पति की योनि (उत्पत्तिस्थान) -

दोनों परम्परायें योनि-संख्या ८४ लक्ष मानती हैं। इनमें वनस्पति की योनियाँ मान्यतानुसार २४ लक्ष और वैदिक मान्यतानुसार २१ लक्ष हैं।^५ वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह संख्या वस्तुस्थिति के बहुत ही नजदीक है। वर्गीकरण के आधुनिक निकष अनुपलब्ध होने पर भी लगभग ३००० वर्ष पहले यह संख्या कथन करना एक आश्चर्यकारक बात ही है।

(३) स्थान :

जैन मान्यता के अनुसार वनस्पतिसृष्टि तीनों लोकों में है।^६ सांख्य-दर्शन की मान्यतानुसार अधोलोक में वनस्पतिसृष्टि है।^७ लेकिन पौराणिक

२. भगवती शतक २५, उद्देशक २, सूत्र १; त्रिलोकप्रज्ञप्ति १.१३३

३. अणुयोगद्वार सूत्र २१६ (५,६)

४. सूत्रकृतांग २.३.२

५. तत्त्वार्थसूत्र ५.२ की टीका

६. भारतीय संस्कृति कोश

७. उत्तराध्ययन ३६.१००

८. सांख्यकारिका ५४

मान्यतानुसार वनस्पति तीनों लोकों में है। आज उपलब्ध ज्ञान के आधारपर वैज्ञानिकों ने उनका अस्तित्व केवल पृथ्वी पर ही होने के संकेत दिये हैं। क्योंकि पानी के आधार पर ही वनस्पति सृष्टि उत्पन्न होती है और पानी केवल पृथ्वी पर ही है।

दोनों परम्पराओं ने वनस्पति का समावेश तिर्यचगति^९ या तिर्यचयोनि^{१०} में किया है। और उनका स्थावरत्व^{११} भी मान्य किया है।

(४) वनस्पति में जीवत्व :

जैन मान्यतानुसार वनस्पति जीवद्रव्य है।^{१२} वनस्पतिकायिक सुप्त चेतनावाले है किन्तु जागृत नहीं है और सुप्त जागृत भी नहीं है।^{१३} स्त्यानगृद्धि निद्रा के सतत उदय से वनस्पतिकायिक जीवों की चेतना बाहरी रूप में मूर्च्छित होती है।^{१४} वनस्पति का मूल जीव एक है और वह वनस्पति के पूरे शरीर में व्याप्त है लेकिन वनस्पति के सभी अवयवों में भी अलग-अलग जीवों का होना मान्य किया है।^{१५}

वैदिकों के अनुसार वनस्पति सजीव सृष्टि का एक अचर प्रकार है। 'उच्चनीच' की दृष्टि से किये हुये सृष्ट पदार्थों की वर्गवारी में उन्हें प्राणियों से नीच माना है।^{१६} सांख्यकारिका में भौतिक सर्ग का कथन करते हुए कहा है कि देवयोनि का सर्ग आठ प्रकार का है। तिर्यच योनि का सर्ग पाँच प्रकार का है अर्थात् गाय, भैंस आदि पशु, हरिण इत्यादि मृग, पक्षी, सर्प और वृक्षादि स्थावर पदार्थ। और मनुष्यसर्ग एक प्रकार का है।^{१७} वैज्ञानिक दृष्टि से सृष्टिव्युत्पत्ति के क्रम में पहली सजीव-निर्मिती वनस्पति

९. अणुयोगद्वार सूत्र २१६(३)

१०. सांख्यकारिका ५३

११. सांख्यकारिका ५३ का प्रकाश; उत्तराध्ययन ३६.६९

१२. उत्तराध्ययन ३६.६९

१३. भगवती १६.६.३-८

१४. भगवती १९.३५ की टीका

१५. सूत्रकृतांग २.७-८; उत्तराध्ययन ३६.९३

१६. भारतीय संस्कृतिकोश

१७. सांख्यकारिका ५३

ही है। उत्क्रान्ति से विकसित सभी सजीव सृष्टि की वह आधारभूत संस्था है। वनस्पतियों में जो जीवशक्ति है उसके आधार पर ही क्रम से प्रगत जीवसृष्टि की निर्मिती हुई है। वनस्पतियों ने भी काल तथा परिस्थिति के अनुसार समायोजन करके खुद में परिवर्तन किये हैं। जैन दृष्टि में प्रत्येक द्रव्य, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार हमेशा परिणमित होता रहता है।^{१८}

जैन मान्यतानुसार वनस्पति का मूल जीव एक है और वह वनस्पति के पूरे शरीर में व्याप्त है। अन्य ग्रन्थों में यह भी कहा है कि वनस्पति के विभिन्न अवयवों में अलग-अलग विभिन्न प्रकार के जीव होते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से इसकी उपपत्ति इस प्रकार दी जा सकती है। वनस्पति शास्त्रानुसार वनस्पति के अवयवों में भिन्न भिन्न प्रकार की पेशियाँ होती हैं। लेकिन उनका डीएनए समान होता है। वृक्ष के किसी भी अवयव की पेशी का डीएनए देखकर हम पूरे वृक्ष का पता लगा सकते हैं। पेशियों का अलग-अलग अस्तित्व होकर भी उनमें जो साम्य है वह ध्यान में रखकर जैन ग्रन्थों में एक मूल जीव और बाकी असंख्यात जीवों की बात कही गई होगी। अर्थात् विज्ञान ने भी सम्पूर्ण वनस्पतिशास्त्र में एक जीव की संकल्पना नहीं की है।

(५) वनस्पति में वेद (लिङ्ग) -

वैदिकोंने वनस्पतियों को 'उद्भिज्ज' कहा है।^{१९} कठोपनिषद् के अनुसार कुछ उच्च जाति की वनस्पतियों की जननक्रिया प्राणियों की जननक्रिया से मेल खाती है।^{२०} वनस्पति के प्रजनन का विचार मुण्डक, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में किया हुआ है। हारितसंहिता तथा चरकसंहिता के अनुसार वनस्पति में लिङ्गभेद है तथा वंशवृद्धि के लिए नरमादासंगम आवश्यक है।^{२१} सपुष्प और अपुष्प वनस्पतियों की पुनरुत्पत्ति का तरीका अलग-अलग होने का स्पष्ट संकेत इससे पाया जाता है। वैज्ञानिक

१८. तत्त्वार्थसूत्र ५.४१

१९. वैशेषिकसूत्र ४.२.५

२०. कठोपनिषद् १.१.६

२१. भारतीयसंस्कृतिकोश

दृष्टि से भी यह वर्णन ठीक है क्योंकि वनस्पतिशास्त्र के अनुसार पपीता जैसे कुछ वृक्षों में नर या मादा वृक्ष अलग-अलग भी होते हैं और वृक्ष के फूल में भी नरबीज या मादाबीज उपस्थित होते हैं। अपुष्प वनस्पति में पुनरुत्पत्ति के अलग-अलग प्रकार विज्ञान ने बताए हैं।

जैन मान्यतानुसार सभी वनस्पतियाँ सम्मूर्च्छिम हैं।^{१२२} और सभी वनस्पतियाँ नपुंसकवेदवाली हैं।^{१२३} दशवैकालिक में वनस्पति की पुनरुत्पत्ति के प्रकार अलग-अलग बतलाये हैं।^{१२४} फिर भी उन्हें सामान्य रूप से नपुंसकवेदी माना है। यह संकल्पना वैज्ञानिक दृष्टि से मेल नहीं खाती।

(६) वनस्पति में इन्द्रियाँ :

जैन दृष्टि से एकेन्द्रिय सृष्टि पाँच प्रकार की है। पृथ्वीकायिक, तेजसकायिक, अपकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इन पाँचों को 'स्पर्शनेन्द्रिय' है। वनस्पतिजीव अन्य चार एकेन्द्रिय जीवों पर निर्भर है।^{१२५} जैन शब्दावली में उनको वनस्पतिकायिक जीवों का आहार कहा है।^{१२६}

स्पर्शनेन्द्रिय से जितना ज्ञान पा सकते हैं उतना ही ज्ञान उनमें है।^{१२७} जीव के एकेन्द्रिय आदि पाँच भेद किये गये हैं, सो द्रव्येन्द्रिय के आधार पर क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो सभी संसारी जीवों को पाँचों होती है।^{१२८} बाकी के इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होने का स्पष्ट निर्देश यहाँ नहीं है। तथापि श्रोत्रभावेन्द्रिय होने का जिक्र कुछ अभ्यासकों ने किया है।^{१२९} वनस्पति के मन के बारे में जैन मान्यता यह है वह अमनस्क (असंज्ञी) है।^{१३०}

आचारांग अर सूत्रकृतांग के पहले श्रुतस्कन्ध में वनस्पति की तुलना

२२. तत्त्वार्थसूत्र २.३६

२३. भगवती ७.८.२; तत्त्वार्थसूत्र २, ५०

२४. दशवैकालिकसूत्र. ४.८

२५. सूत्रकृतांग २.३.२

२६. सूत्रकृतांग २.३.२-५

२७. भगवती ७.८.५

२८. विशेषावश्यक २९९९, ३००१; दर्शन और चिन्तन पृ. ३००

२९. दर्शन और चिन्तन, पृ. ३०८

३०. तत्त्वार्थसूत्र २.११

मनुष्य शरीर से, मनुष्य की शारीरिक अवस्था से और मनुष्य की मानसिक संवेदनासे विस्तारपूर्वक की है।^{३१} दोनों ग्रन्थों में की हुई इस तुलना से यह प्रतीत होता है कि वनस्पति में पाँचों इन्द्रियाँ होने का अनुभव उन्होंने इसमें ग्रथित किया है। पंचेन्द्रिय की तरह वनस्पति में सिर्फ 'रस' धातु के सिवाय रक्त, मांस आदि छह धातु न होने से उसकी गणना 'एकेन्द्रिय' में की है।^{३२}

वैदिक साहित्य में वनस्पति की इन्द्रियों की चर्चा विस्तृत रूप से सिर्फ महाभारत के शान्तिपर्व में दिखाई देती है। महाभारत के शान्तिपर्व में भृगु मुनि तथा भारद्वाज के संवाद से वृक्षों के पाँचभौतिक तथा इन्द्रियसहित न होने की और होने की चर्चा विस्तार से पाई जाती है। भारद्वाज मुनि के कथन का सारांश यह है कि वृक्ष में द्रव, अग्नि, भूमि का अंश, वायु का अस्तित्व तथा आकाश नहीं है। इसलिए वे पाँचभौतिक नहीं है। भृगुमुनि को यह दृष्टिकोण बिलकुल मान्य नहीं है। उन्होंने बड़े विस्तार से वृक्षसम्बन्धी बातें कहीं हैं। 'वृक्ष घनस्वरूप है यह सच है लेकिन उसमें आकाश का अस्तित्व होता भी है। उसके पुष्प और फल क्रमक्रमसे दिखाई देते हैं इसलिए वे 'चेतन' भी हैं और 'पाँचभौतिक' भी हैं।

उष्णता से वृक्ष का वर्ण म्लान होता है। छाल सूख जाती है। फल और फूल पक्व और जीर्ण होकर गिरते हैं इसलिए उन्हें 'स्पर्शसंवेदना' है। जोर की हवा की ध्वनि, से वडवाग्नि तथा वज्रपात की ध्वनि से, वृक्षों के फल और फूल गिर जाते हैं। ध्वनिसंवेदना तो श्रोत्रेन्द्रिय को होती है। इसलिए वृक्षों को 'श्रवणेन्द्रिय' है। लता वृक्ष को वेष्टित करती है, वृक्ष पर फैल जाती है। आदमी को भी अगर दृष्टि नहीं होती तो वह उचित मार्ग से जा नहीं सकता था, इसलिए वृक्ष 'देख' भी सकता है। सुगन्ध वा दुर्गन्ध से तथा धूप आदि से वृक्ष रोगरहित होते हैं और उनमें फूलफलों की बहार आ जाती है। इसलिए उन्हें 'घ्राणेन्द्रिय' भी है। वृक्ष अपने मूलों के द्वारा जल का शोषण करते हैं। वे रोगग्रस्त भी होता हैं। इतना ही नहीं, उनमें रोग के प्रतिकार का सामर्थ्य भी है। इसलिए वृक्ष को 'रसनेन्द्रिय' है।

३१. आचारांग १.१.१०४; सूत्रकृतांग २.७.८; सूत्रकृतांग टीका पृ. १५७ बी. १०

३२. सूत्रकृतांग २.६.३५ का टिप्पण

वृक्ष को सुख और दुःख की संवेदना होती है। कटा हुआ वृक्ष फिर जोर से फूटता है। इसलिए वृक्ष में 'जीव' है, वे अचेतन नहीं, 'सचेतन' ही हैं। वृक्ष ने भूमि से शोषण किये हुये जल का, उष्णता और वायु की मदद से पचन होता है। यह जलाहार उसमें स्निग्धता का निर्माण करता है और उसकी वृद्धि भी करता है।^{३३} मूल प्रकृति में अहंकार से भिन्न-भिन्न पदार्थ बनने की शक्ति प्राप्त होने पर विकास की दो शाखायें होती हैं। एक-वृक्ष, मनुष्य आदि सेन्द्रिय प्राणियों की दृष्टि और निरिन्द्रिय पदार्थ की सृष्टि।^{३४}

वैज्ञानिक दृष्टि से वनस्पति सजीव है। इन्द्रियधारी जीवों की तरह उनमें स्पष्ट रूप से एक भी इन्द्रिय मौजूद नहीं है। लेकिन सभी इन्द्रियों के कार्य वनस्पति अपनी त्वचा के माध्यम से ही करती है। इस दृष्टि से देखें तो उन्हें 'स्पर्शनेन्द्रिय' है ऐसा माना जा सकता है। उनको दूसरों के अस्तित्व की संवेदना त्वचा से ही होती है। रसनेन्द्रिय का काम रस का ग्रहण है और वनस्पति में स्पष्ट मात्रा से मूल और उपमूलों के द्वारा होता है। फिर भी श्वासोच्छ्वास, अन्य निर्मिती आदि रूप से पत्ता, तना आदि भी इस रस के ग्रहण की प्रक्रिया में शामिल होते हैं। इस प्रकार यह कार्य भी त्वचा से निगडित है। उनमें गन्ध की संवेदना होने का प्रयोग वैज्ञानिक रूप से अभी उपलब्ध नहीं है। अस्तित्व की संवेदना तो उन्हें होती है। आसपास के सजीव, निर्जीव सृष्टि के रंगरूप की संवेदना के बारे में कहा नहीं जा सकता। लेकिन रंगरूप के विशेष ज्ञान के लिए जो विशेष ज्ञानशक्ति आवश्यक है उस तरह का विकास उनमें नहीं है! क्योंकि उनमें संवेदना करानेवाली मज्जासंस्था या भेजा मौजूद नहीं है। सुमधुर गायन इत्यादि का अनुकूल परिणाम वनस्पतियों पर होता है। इस विषय का संशोधन किया गया है, फिर भी ध्वनि की लहरें, कम्पन के द्वारा उनकी त्वचा से स्पर्श करती हैं और उन्हें ध्वनिसंवेदना होती है। अलग श्रवणेन्द्रिय की कोई गुंजाईश नहीं है।

साम्य के आधार से कहा जाय तो फूलवाली वनस्पतियों का

३३. महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व) अध्याय १८४, ६-१८

३४. गीतारहस्य पृ. १०५

जननेन्द्रिय 'फूल' है। श्वासोच्छ्वास का इन्द्रिय 'पत्ता' है। उत्सर्जन क्रिया हर वनस्पति में परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग होती है। वह पत्ते, तना और मूल सभी अवयवों के द्वारा होती है। जो-जो भी इन्द्रिय संवेदनायें वनस्पति में पायी जाती हैं, उनके पीछे विचारशक्ति, मन अथवा मज्जासंस्था नहीं होती। वनस्पति जो-जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियायें देती हैं वे सिर्फ रासायनिक या संप्रेरकात्मक प्रक्रियायें हैं। मनुष्य में ऐच्छिक क्रियायें और प्रतिक्षिप्त क्रियायें दोनों होती हैं। ऐच्छिक क्रियाओं के लिए विचारशक्ति की आवश्यकता नहीं होती है। जैसे कि किसी भी आगात से पलकों का झपकना। इस क्रिया के पीछे कोई भी विचारशक्ति नहीं है, उसी प्रकार छूई-मूई (mimosa pudica) आदि वनस्पतियों में इस प्रकार की क्रियायें प्रतिक्षिप्त क्रियायें हैं।

व्याख्याप्राप्ति में कहा है कि वनस्पतिजीव को समयादि का ज्ञान नहीं होता।^{३५} आपाततः तो लगता है कि यह संकल्पना गलत है क्योंकि सूरजमुखी का सूरत की तरफ झुकना, रजनीगन्धा का रात में फूलना, दिन में या रात में कमलों का विकसित होना, विशिष्ट ऋतु में वनस्पति में फूलों-फलों की बहार आना आदि घटनायें देखकर ऐसा लगता है कि समय के अनुसार वनस्पति प्रतिक्रियायें देती रहती है। लेकिन वैज्ञानिक दृष्टि से ये सिर्फ रासायनिक संप्रेरकात्मक घटनायें हैं। इसमें जानबूझकर करने की कोई बात नहीं उठती। इसीलिए एक प्रकार से कहा भी जा सकता है कि उनमें समय का ज्ञान नहीं है। समयानुसारी वर्तन तो उनमें मौजूद है पर वह ज्ञानपूर्वक नहीं है।

वैदिक साहित्य में काव्य, नाटक आदि में वनस्पति ऋतु के अनुसार पुष्पति-फलित होना, कमलों के विविध प्रकार आदि के उल्लेख विपुल मात्रा में पाये जाते हैं। लेकिन दार्शनिक ग्रन्थों में इसका विचार स्वतन्त्र रूप से नहीं किया है।

वनस्पति का आहार में प्रयोग -

जैन प्राकृत ग्रन्थों में वनस्पति द्वारा किया जानेवाला आहार तथा

वनस्पति का अन्य जीवों द्वारा किया जानेवाला आहार इस विषय से सम्बन्धित चर्चा विस्तार से पायी जाती है।^{३६} प्रस्तुत शोधनिबन्ध की मर्यादा ध्यान में रखते हुये वनस्पति के एकेन्द्रियत्व से जितनी चर्चा सम्बद्ध है उतनी ही यहाँ की है। वनस्पतिजीव एकेन्द्रिय हैं। फिर भी शरीरपोषण के लिए सभी शरीरधारी जीवों को वनस्पति का आहार करना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी मर्यादा के बाहर वनस्पति का उपयोग जैन दर्शन को मंजूर नहीं है। वनस्पति 'जीव' होते हुये भी उनका आहार में प्रयोग करने का कारण सूत्रकृतांग में बताया है कि एकेन्द्रिय जीव केवल रस धातु की निष्पत्ति होती है। उसमें रक्त नहीं होता। रक्तधातु के बिना मांसधातु निष्पन्न नहीं होती। इसलिए मांस और अन्न की तुलना संगत नहीं है।^{३७} सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन शास्त्रों में कन्दमूलों को साधारण वनस्पति का दर्जा दिया है और उसका प्रत्येक जैन व्यक्ति के खानपान में निषेध भी किया है। इतना ही नहीं, दिन में जिन-जिन वनस्पतियों का प्रयोग अपने खानपान में किया है, उनकी आलोचना करने का विधान साधुसाध्वी और श्रावक-श्राविका के नित्य आवश्यककृत्य में बताया है।^{३८} जैनियों की वनस्पति के प्रति विशेष संवेदनशीलता ही इससे प्रतीत होती है।

शाकाहार-मांसाहार दोनों के गुणधर्मों का विश्लेषण विज्ञान में करना है। वैज्ञानिक ग्रन्थ बोध या उपदेश देनेवाले न होने के कारण विज्ञान में किसी की सिफारिश नहीं की जाती। अलग-अलग गुणधर्म पहचान के कौनसा आहार त्याज्य है और कौनसा आहार ग्राह्य है यह सर्वथा व्यक्ति पर निर्भर है। वैज्ञानिक दृष्टि के कन्दमूल, हरी सब्जी तथा अंकुरित धान्य खाने का निषेध तो है ही नहीं बल्कि उनमें प्रोटीन्स और विटामिन्स बहुत ज्यादा मात्रा में होने का निर्देश है। जैन शास्त्रों में जिन जिन चीजों का आहार में निषेध किया है, वह वैज्ञानिक दृष्टि से निषिद्ध होने की सम्भावना नहीं है।

वैदिक ग्रन्थों में देखा जाय तो महाभारत के शान्तिपर्व में कहा है

३६. सूत्रकृतांग, आहारपरिज्ञा अध्ययन; प्रज्ञापना २८.१; १८०७, १३; भगवती

७.३.१-२

३७. सूत्रकृतांग २.६.३५ का टिप्पण

३८. आवश्यकसूत्र ४.२५ (१)

कि हिरन जैसे चर प्राणी तृण जैसे अचर पदार्थ खाते हैं। व्याघ्र जैसे तीक्ष्ण दाढ़वाले प्राणी हिरन जैसे प्राणियों को खाते हैं। विषधारी साप निर्विष दुबले सापों को निगलते हैं।^{३९} 'बलशाली जीव निर्बल जीवों का आहार करते हैं।' इस प्रकार के उल्लेख वैदिक साहित्य में विपुल मात्रा में पाये जाते हैं जैसे कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्।' मनुस्मृति में भी इसका निर्देश है-^{४०}

विज्ञान में प्रचलित जो अन्नशृङ्खला है उसके संकेत वैदिक साहित्य से मिलते हैं। आहार के बारे में मनुस्मृति कहती है कि-

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत्।

स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥^{४१}

वनस्पति का औषध में प्रयोग :

चरक संहिता के आरम्भ में कहा है कि आयुर्वर्धन तथा रोगनिवारण^{४२} इन दोनों हेतु चरक ने विविध प्रकार के कल्प, कल्क, चूर्ण, कषाय आदि औषधप्रकारों का निर्देश किया है। औषध बनाये जाने का स्पष्ट निर्देश चरकसंहिता में है यथा-वनस्पति से, मेद से, वसा से, चरबी से।^{४३} चरकसंहिता ग्रन्थ के परिशिष्ट-२ में दी हुई तालिका से स्पष्ट है कि प्रस्तुत वर्गीकरण में वनस्पति द्रव्यों की ही प्रधानता है। वनस्पति के मूल, छाल, सार, गोंद, नाल (डण्ठल), स्वरस, मृदु पत्तियाँ, क्षार, दूध, फल, फूल, भस्म (राख), तैल, काँटे, पत्तियाँ, शुङ्ग (टूसा), कन्द, प्ररोह (वटजटा) इन १८ अवयवों का प्रयोग औषधि बनाने के लिए किया जाता है।^{४४} वैदिकों की जीवन जीने की दृष्टि बिल्कुल अलग है। वह निवृत्तिगामी या निषेधात्मक नहीं हैं। सुखी, समृद्ध, निरोगी जीवन, उत्साह और उमंगपूर्वक उत्साह से जीना यह वैदिक परम्परा का विशेष है। इसी तरह से वनस्पतियों का खुद

३९. महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ८९, २१-२६

४०. मनुस्मृति ५.२९

४१. मनुस्मृति ५.२८

४२. अथातो दीर्घज्जीवित्तीयअध्यायं, चरकसंहिता सूत्र १

४३. चरकसंहिता ७३

४४. चरकसंहिता ७३

के लिए इस्तेमाल करने में कोई दिक्कत नहीं लगती । वैदिकों ने आयुर्वेद को पंचम वेद का दर्जा दिया है ।^{४५}

जैन दर्शन के अनुसार आयुष्य बढ़ाने की बात बिलकुल गलत धारणा पर आधारित है । आयुष्य की कालावधि 'आयुष्कर्म' पर निर्भर होने के कारण उसको बढ़ाने के लिए कोई प्राश या कल्प लेना उन्हें मंजूर नहीं है । दूसरी बात रही रोगनिवारण की । कर्मसिद्धान्त के अनुसार रोगों की वेदनायें हमारे ही कृत कर्मों का विपाक है ।^{४६} उनका वेदन करने से कर्मनिर्जरा होती है । वेदना बहुत ही ज्यादा असहनीय हो तो औषधयोजना की जा सकती है । लेकिन उसके लिए वनस्पति के प्रासुक अवयव हम उपयोग में ला सकते हैं । हरेभरे जीवित वृक्ष के पत्ते, छाल, मूल आदि अवयव औषध बनाने के लिए अनुमत नहीं है ।

उपसंहार

जैन और वैदिकों के वनस्पतिविषयक विचार तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण इन तीनों का एकत्रित विचार करके निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं ।

- * तीनों ने वनस्पति का समावेश जीवविभाग में किया है और वनस्पति चेतना का निर्देश प्रायः 'सुप्तचेतना' इस शब्द से ही किया है ।
- * वैदिकों ने आत्मा से आरम्भ करके क्रमबद्धता से वनस्पति का विकास सूचित किया है । आत्मविचार को छोड़कर अगले का क्रम वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेल खाता है । जैन ग्रन्थों में पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों का उल्लेख किया गया है । वनस्पतिकायिक के जीवत्व का आधार प्रथम चार एकेन्द्रिय जीव माने हैं । लेकिन पहले चारों की एक दूसरे से उत्पत्ति का निर्देश नहीं किया है ।
- * दोनों परम्पराओं में निर्दिष्ट वनस्पतियोनि-संख्या वैज्ञानिक दृष्टि से मेल खाती है ।
- * दोनों मान्यताओं के अनुसार वनस्पतिसृष्टि तीनों लोकों में है । आज

४५. भारतीय संस्कृति कोश

४६. तत्त्वार्थसूत्र ८.५

उपलब्ध ज्ञान के आधारपर वैज्ञानिकों ने उसका अस्तित्व केवल पृथ्वी पर ही होने के संकेत दिये हैं ।

- * जैन मान्यतानुसार वनस्पति का मूल जीव एक है और उसके विभिन्न अवयवों में अलग-अलग विभिन्न असंख्यात जीव होते हैं । वनस्पतिशास्त्र के अनुसार वनस्पति केवल विभिन्न अवयवों की पेशियों का एक दूसे से जुड़ा हुआ संघात है । विज्ञान ने पूरे वनस्पति में व्याप्त एक जीव को मान्यता नहीं दी है । वृक्ष के किसी भी अवयव की पेशी का डीएनए देखकर हम पूरे वृक्ष का पता लगा सकते हैं । पेशियों का अलग-अलग अस्तित्व होकर भी उनमें जो साम्य है वह ध्यान में रखकर जैन ग्रन्थों में एक मूल जीव और बाकी असंख्यात जीवों की बात कही गयी होगी ।
- * जैन मान्यतानुसार सभी वनस्पतियाँ सम्पूर्ण हैं । इसलिए वे नपुंसकवेदी हैं । वैदिकों के अनुसार वनस्पति में लिङ्गभेद है तथा वंशवृद्धि के लिए नर-मादा-सङ्गम आवश्यक है । सपुष्प और अपुष्प वनस्पतियों के प्रजनन के बारे में जो विचार वैदिकों ने किये हैं, वे प्रायः वैज्ञानिक दृष्टि से योग्य लगते हैं ।

जैन शास्त्रकारों ने 'बीज' शब्द का नपुंसकलिङ्ग तथा बीज बोने से उसकी उत्पत्ति यह ध्यान में रखकर उन्हें नपुंसकवेदी कहा होगा । मूल, स्कन्ध आदि से उत्पन्न होनेवाली वनस्पति को देखकर उन्हें भी 'नपुंसकवेदी' कहा होगा । सपुष्प वनस्पति में होनेवाली नरमादा बीजों का मिलन उन्होंने नजरअंदाज किया होगा ।

- * जैन मान्यतानुसार वनस्पतिकायिक जीव को एकही इन्द्रिय अर्थात् 'स्पर्शन' इन्द्रिय है । अभ्यासकों के अनुसार यद्यपि उनमें स्पर्शनेन्द्रिय के अलावा और चार इन्द्रियाँ तथा मन प्रत्यक्षतः द्रव्यरूप से मौजूद नहीं है तथापि चार इन्द्रियाँ तथा मन की शक्ति उसमें भावरूप से मौजूद है ।

महाभारत तथा सांख्यकारिका के अनुसार वनस्पति पाँचभौतिक है और उसमें पाँचों इन्द्रियाँ तथा मन होता है । वैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्रियधारी जीवों की तरह वनस्पति में स्पष्ट रूप से एक भी इन्द्रिय मौजूद नहीं है । लेकिन सभी इन्द्रियों के कार्य वनस्पति अपनी त्वचा के माध्यम से ही करती

है। विज्ञान के अनुसार-जो भी इन्द्रिय संवेदनायें वनस्पति में पायी जाती हैं उनके पीछे विचारशक्ति, मन अथवा मज्जासंस्था नहीं होती। वह केवल प्रतिक्षिप्त क्रियायें होती हैं। वनस्पति जो-जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियायें देती है, वे सिर्फ रासायनिक या संप्रेरकात्मक प्रक्रियायें हैं। पाँच इन्द्रियधारी जीवों के साथ सपुष्प वनस्पति की तुलना की ही जाय तो हम कह सकते हैं कि फूलवाली वनस्पतियों की जननेन्द्रिय 'फूल' है। श्वासोच्छ्वास की इन्द्रिय 'पत्ता' है। उत्सर्जन क्रिया हर वनस्पति में परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग होती है। वह पत्ते, तना और मूल सभी अवयवों के द्वारा होती है।

* जैन ग्रन्थों में वनस्पति में समयज्ञान न होने का जिक्र किया है। आपाततः यह तर्क ठीक नहीं लगता। सूरजमुखी का सूरज की तरफ झुकना आदि क्रियायें वैज्ञानिक दृष्टि से सिर्फ रासायनिक संप्रेरकात्मक घटनायें हैं। इसमें जानबूझकर करने की कोई बात नहीं उठती। इसीलिए एक प्रकार से कहा भी जा सकता है कि उनमें समय का ज्ञान नहीं है। समयानुसारी वर्तन तो उनमें मौजूद है पर वह ज्ञानपूर्वक नहीं है।

* जैन दृष्टि से शाकाहार ही सर्वथा योग्य आहार है। शाकाहार के अंदर भी बहुत सारी चीजों को ग्राह्य और त्याज्य माना है। साधु और श्रावक के लिए भी खानपान के अलग-अलग नियम हैं। विज्ञान ने शाकाहार-मांसाहार दोनों के गुणधर्म बतलाये हैं और उसकी ग्राह्यता और त्याज्यता व्यक्तिपर निर्भर रखी है। वैज्ञानिक दृष्टि से कन्दमूल, हरी सब्जियाँ तथा अंकुरित धान्य काने का निषेध तो है ही नहीं बल्कि उनमें प्रोटिन्स और विटामिन्स बहुत ज्यादा मात्रा में होने का निर्देश है। जैन शास्त्रों में जिन-जिन चीजों को आहार में निषेध किया है उनको विज्ञान से पुष्टि नहीं मिल सकती।

वैदिक परम्परा की आहारचर्चा और आहारचर्या प्रायः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मेल खाती है।

* वैदिक परम्परा में आयुर्वेद को पंचम वेद का दर्जा दिया गया है। आयुर्वर्धन तथा रोगनिवारण हेतु वनस्पतियों से विविध प्रकार की औषधियाँ बनाने की प्रक्रियायें उसमें वर्णित हैं। जैन दर्शन में आयुर्वर्धन

आयुष्यकर्म से निगडित है तथा अगर अत्यावश्यक हो तो रोगनिवारण सिर्फ प्रासुक औषधियों से किया जाता है ।

निष्कर्ष

उपसंहार में निर्दिष्ट मुद्दों के आधार से हम इस निष्कर्ष तक पहुँचते हैं कि इन्द्रियों की दृष्टि से जैन और वैदिक परम्परा में किया हुआ वनस्पति विचार प्रायः आज के वनस्पतिशास्त्रविषयक तथ्यों से मिलताजुलता है । दोनों परम्पराओं के विचार लगभग ईसवीपूर्व काल के हैं । केवल चिन्तन और निरीक्षण के आधार पर उन्होंने किया हुआ विश्लेषण काफी सराहनीय है ।

जैन परम्परा वनस्पतिसृष्टिकी ओर हिंसा-अहिंसा की दृष्टि केन्द्रस्थान में रखते हुये देखती है । इस परम्परा ने वनस्पतियों को 'एकेन्द्रिय' कहा है तथापि एकेन्द्रिय होना उनके स्वतन्त्र जीव होने में बाधारूप नहीं है । इन्द्रियों की पर्याप्तियों को देखकर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव हैं तथापि जीवत्वरूप से सभी में समानता है । एकेन्द्रिय जीव कम दर्जावाला और पंचेन्द्रिय मनुष्य श्रेष्ठ दर्जावाला नहीं है । वनस्पतिकायिक जीव मनुष्य रूप में आ सकता है और मनुष्य भी वृक्षरूप में परिणत हो सकता है । यद्यपि वनस्पति की चेतना सुप्त है तथापि मनुष्य को बिलकुल हक नहीं है कि वह उनको दुःख पहुँचाये । आचारांग और सूत्रकृतांग के उपर्युक्त सन्दर्भ इस पर अच्छा प्रकाश डालते हैं । उत्तरोत्तर प्राकृत साहित्य में वनस्पतिविषयक चर्चा की गहराई बढ़ती गई । वनस्पति का आहार से निकट सम्बन्ध होने के कारण आहारचर्चा और खासकर निषेधचर्चा बढ़ती गयी । श्रावकों के लिए 'वणकम्म' तथा 'इंगालकम्म' आदि वनस्पतिसम्बन्धिव्यवसाय निषिद्ध माने गये । चित्रकारी में भी उन्होंने वनस्पतिजन्य रंगों का उपयोग नहीं किया । आयुर्वेद में वनस्पति को काँट कर, कूटकर, घोलकर, उबालकर औषध बनाये जाते हैं । इसलिए इस शाखा का विस्तार और प्रचार जैन परम्परा में नहीं हुआ । परिणाम स्वरूप जैनियों ने वनस्पतिसृष्टि को हानी तो नहीं पहुँचायी लेकिन साथसाथ वृक्षारोपण, वृक्षसंवर्धन, बगीचे बनाना आदि क्रियाओं में भी वे सहभागी नहीं हुये । वनस्पति की ओर उन्होंने भावनात्मक और नैतिकता के दृष्टिकोण से देखा ।

वैदिकोंने हमेशा उल्हास, उमंग, आरोग्य और समृद्ध मानवी जीवन को केन्द्रस्थान में रखकर सारी शास्त्रशाखाओं का निर्माण किया। वनस्पतिशास्त्र का भी सूक्ष्मता से विचार किया। उससे निष्पन्न होने वाली आयुर्वेद तथा वननिर्माण, उद्याननिर्माण इन शास्त्र तथा कलाओं की भी वृद्धि की। उन्होंने वृक्षों को पंचेन्द्रिय कहा, लेकिन अहिंसा की दृष्टि रखते हुये उनको दैनंदिन व्यवहार से दूर नहीं किया बल्कि वनस्पति का यथोचित इस्तेमाल ही किया। दैनंदिन व्यावहारिक जीवन में मनुष्य को महत्त्वपूर्ण और वनस्पति को निम्नस्तरीय मानकर आयुर्वर्धन तथा रोगनिवारण के लिए उनका खूब उपयोग किया। ये सब करे हुये वृक्षों को पीडा देने की भावना उनमें भी नहीं थी। बल्कि अनेक वृक्षों की ओर पूजनीयता की दृष्टि को देखकर उनका सम्बन्ध अनेक व्रतों से भी स्थापित किया। वृक्ष के फल-फूल-पत्ते तोड़ने में उनके मन में हिंसा की तनिक भी भावना नहीं थी। बल्कि 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' इस रूप में ईश्वर को अर्पण करने की भी बुद्धि थी।

जैन (निर्ग्रन्थ परम्परा) और वैदिक परम्परा इन दोनों के मूलाधार जीवनदृष्टि और तत्त्वज्ञान में इतना मौलिक भेद है कि कोई भी सृष्ट वस्तु की तरफ देखने का उनका परिप्रेक्ष्य अलग-अलग ही होता है। जैन परिभाषा में कहें तो वैदिक परम्परा वनस्पति की ओर व्यवहारनय से देखते हैं तो जैन निश्चयनय देखते हैं। वनस्पति के बारे में वैदिकों का वर्तन मानवकेन्द्री है तो जैनियों का मानवतावादी है।

विज्ञान सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि

- (१) Champion, Harry G. and Seth S. K. - A revised survey of forest types of India.
- (2) P.S. Verma, K. K. Agarwal-Principles of Ecology - 1992.
- (3) M. C. Das - Fundamentals of Ecology.
- (4) Taxonomy of Augisperms - V. N. Naik.

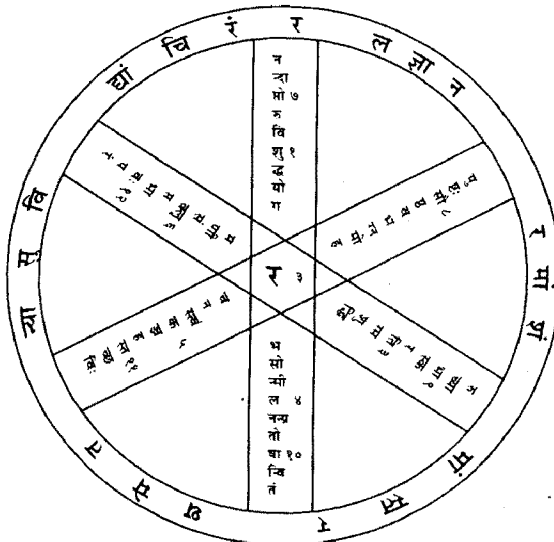
षड्भाषामय श्रीऋषभप्रभुस्तव के कर्त्ता श्री जिनप्रभसूरि हैं

म० विनयसागर

अनुसन्धान अंक ३९ पृष्ठ ९ से १९ में प्रकाशित षड्भाषामय / अष्टभाषामय श्रीऋषभप्रभुस्तव अवचूरि के साथ प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक मुनि श्री कल्याणकीर्तिविजयजी हैं। संशोधन और शुद्ध पाठ देते हुए इस स्तव को प्रकाशित कर अनुसन्धित्सुओं के लिए प्रशस्ततम कार्य किया है, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इसके कर्त्ता के सम्बन्ध में (पृष्ठ १०) सम्पादक ने अनुमान किया है कि इसके कर्त्ता ज्ञानरत्न होने चाहिए, जो कि सम्यक् प्रतीत नहीं होता है।

इस स्तोत्र का ३९वाँ पद्य “कविनामगर्भं चक्रम्” अर्थात् चक्रबद्ध चित्रकाव्य में कर्त्ता ने अपना नाम गुम्फित किया है। जो कि चक्रकाव्य के नियमानुसार इस प्रकार है :-



शुभतिलककल्पोऽसौ भाषास्तवः

अर्थात् इस श्लोक के प्रथम द्वितीय तृतीय चरण के छद्म अक्षर ग्रहण करने से 'शु', 'भ', 'ति' क्रमशः चौदवाँ अक्षर ग्रहण करने से 'ल', 'क' 'क्लृ', पुनः इन तीनों चरणों के प्रारम्भ के तीसरा अक्षर ग्रहण करने पर 'प्तो', 'सौ', 'भा' और सत्तरवाँ अक्षर ग्रहण करने से 'षा', 'स्त', 'वः' अर्थात् शुभतिलकक्लृप्तोऽसौ भाषास्तवः ग्रहण किया जाता है ।

इस शब्दविन्यास से शुभतिलकक्लृप्त यह भाषास्तव है ।

इसी प्रकार शुभतिलक (आचार्य बनने पर जिनप्रभसूरि) ने गायत्री विवरण लिखा है । इसमें भी शुभतिलकोपाध्याय रचित लिखा है । अभय जैन ग्रन्थालय की प्रति में इस प्रकार उल्लेख मिलता है :-

चक्रे श्रीशुभतिलकोपाध्यायैः स्वमतिशिल्पकल्पान् ।

व्याख्यानं गायत्र्याः क्रीडामात्रोपयोगमिदम् ॥

इति श्रीजिनप्रभसूरि विरचितं गायत्रीविवरणं समाप्तं ।

गायत्री-विवरण प्रो. हीरालाल रसिकदास कापड़िया सम्पादित अर्थरत्नावली पुस्तक में पृष्ठ ७१ से ८२ तक में प्रकाशित हो चुका है । उसमें पुष्पिका नहीं है ।

परवर्ती ग्रन्थकारों ने शुभतिलकोपाध्याय प्रणीत इन दोनों कृतियों को जिनप्रभसूरि रचित ही स्वीकार किया है । यही कारण है कि मैंने भी "शासन प्रभावक आचार्य जिनप्रभ और उनका साहित्य" पुस्तक के पृष्ठ ३४ पर लिखा है कि जिनप्रभसूरि का दीक्षा नाम शुभतिलक ही था, और आचार्य बनने पर जिनप्रभसूरि बने ।

प्रकरण खलाकर भाग-२ सा. भीमसिंह माणक ने (प्रकाशन सन् १९३३) पृष्ठ नं. २६३ से २६५ निरवधिरुचिरज्ञानं प्रकाशित हुआ है । जिसकी पुष्पिका में लिखा है :-

इति श्रीजिनप्रभसूरिविरचितं अष्टभाषात्मकं श्रीऋषभदेवस्तवनं समाप्तम् ।

इसी प्रकार लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृत विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्रकाशित संस्कृत-प्राकृत भाषानिबद्धानां ग्रन्थानां सूची भाग-१ (मुनिराज श्री पुण्यविजयजी संग्रह) के क्रमाङ्क १३६३ परिग्रहण

पञ्जिका नं. ६७५४/१, पृष्ठ १७६-१७७, लेखन संवत् १५८३, दयाकीर्तिमुनि द्वारा लिखित और पण्डित सिंहराज पठनार्थ की अवचूरि सहित इस प्रति में भी जिनप्रभसूरिजी की कृति माना है। इस अवचूरि की पुष्पिका में लिखा है :- “इति शुभतिलक इति प्राक्तननाम श्रीजिनप्रभसूरिविरचित भाषाष्टक संयुतस्तवावचूरिः।” इस प्रति की अवचूरि और प्रकाशित अवचूरि पृथक्-पृथक् दृष्टिगत होती है।

इसी प्रकार श्री अगरचन्दजी भंवरलालजी नाहट ने भी विधिमार्गप्रपा शासन प्रभावक जिनप्रभसूरि निबन्ध में और मैंने भी शासन प्रभावक आचार्य जिनप्रभ और उनका साहित्य में इस कृति को जिनप्रभसूरि कृत ही माना है।

श्री जिनप्रभसूरि रचित षड्भाषामय चन्द्रप्रभ स्तोत्र प्राप्त होता है। अतः शुभतिलक रचित इस स्तोत्र को भी जिनप्रभसूरि का मानना ही अधिक युक्तिसंगत है।

लघु खरतरशाखीय आचार्य श्रीजिनसिंहसूरि के पट्टधर आचार्य जिनप्रभ १४वीं सदी के प्रभावक आचार्यों में से थे। मुहम्मद तुगलक को इन्होंने प्रतिबोध दिया था। इनके द्वारा निर्मित विविध तीर्थ कल्प, विधिमार्गप्रपा, श्रेणिक चरित्र (द्विसन्धान काव्य) आदि महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्राप्त हैं। सोमधर्मगणि और शुभशीलगणि आदि ने अपने ग्रन्थों के कथानकों में भी इनको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इनका अनुमानित जन्मकाल १३१८, दीक्षा १३२६, आचार्य पद १३४१ और स्वर्गवास संवत् अनुमानतः १३९० के आस-पास है।

માહિતી**નવાં પ્રકાશનો**

૧. **ઉપદેશપ્રદીપ:** કર્તા : પં. મુક્તિવિમલ ગણિ; સં. મુનિ ધર્મતિલકવિજય; પ્ર. સ્મૃતિમન્દિર પ્રકાશન, અમદાવાદ; સં. ૨૦૬૩
લગભગ પોળા ચારસો જેટલાં ધર્મવિષયક ઉપદેશાત્મક સુખાષિતોના સંગ્રહસમી રચના. જુદા જુદા ૩૫ જેટલા વિષયો વિષે શ્લોકોની રચના આમાં છે. સ્વાધ્યાય, પ્રવચન માટે ઉપકારક રચના.
૨. **નવતત્ત્વ સંવેદન પ્રકરણ :** સ્વોપજ્ઞવિવરણસમેત; કર્તા : મહામન્ત્રી ડણ્ડનાયક અમ્બપ્રસાદ; સં.પ્ર. વગેરે ઊપર મુજબ.
વિ.સં. ૧૨૨૦માં ગુર્જર રાજ્યના મન્ત્રી શ્રાવકે જૈન ઢર્શનના મૂલસમા ૯ તત્ત્વો વિષે પોતાનું સંવેદન આ શ્લોકબદ્ધ ગ્રન્થમાં તથા તેના વિવરણમાં આલેખ્યું છે, જે ંક સુખદ આશ્ચર્ય જન્માવે છે. અમ્બપ્રસાદ-આમ્બડ મન્ત્રીના બાહુબલ તથા યુદ્ધકૌશલ તેમજ રાજનીતિજ્ઞતા વિષે તો ંતિહાસના ગ્રન્થોમાં વાંચવા મલ્લે છે, પરન્તુ તે સંસ્કૃતના તથા તત્ત્વજ્ઞાનના આટલા ઉત્તમ વિદ્વાન હશે તેની જાણ તો આવું પ્રકાશન જોવા મલ્લે ત્યારે જ થાય છે. વિ.સં. ૨૦૦૭માં ગણી બુદ્ધિસાગરજી દ્વારા સંશોધિત આ ગ્રન્થનું યથાવત પુનઃમુદ્રણ આ પુસ્તકરૂપે થયું છે.
૩. **શ્રીસમવસરણ સાહિત્ય સંગ્રહ :** સં. પ્ર. ઊપર મુજબ.
શ્રીધર્મઘોષસૂરિરિચિત 'સમવસરણસ્તવ' આદિ, જૈન તીર્થકરના સમવસરણના વિધાનને અનુલક્ષીને રચાયેલી, વિવિધ લઘુ રચનાઓનું સંકલન-સમ્પાદન આ પુસ્તકરૂપે થયું છે. ઉપરાંત સમવસરણનો અધિકાર જે જે ગ્રન્થમાં હોય તેનો સ્થાનોલ્લેખ પણ આમાં સમ્પાદક દ્વારા અપાયો છે.
૪. **સમણસુત્તં (જૈન ધર્મસાર) :** ગુજરાતી અનુવાદ સાથે અનુ. મુનિ ભુવનચન્દ્ર; પ્ર. યજ્ઞ પ્રકાશન, વડોદરા; ં. ૨૦૦૭
ખ. મહાવીર પ્રભુની ૨૫મી શતાબ્દીના ઉપલક્ષ્યમાં શ્રીવિનોબાજી દ્વારા પ્રેરિત, જૈન ધર્મના સમ્પ્રદાયોના વિદ્વાન્ મુનિરાજોં મલ્લીને સંકલિત કરેલ

આ ધર્મગ્રન્થનું ગુજરાતી ભાષાન્તર કરવાનું, સમય, શક્તિ અને સમજણની કસોટી કરે તેવું કામ, અનુવાદક મુનિવરે સુપેરે કર્યું છે. તેની આ સુઘડ, ત્રીજી આવૃત્તિ છે.

૫. **પ્રમાણમીમાંસા** : રચયિતા - આચાર્યશ્રીહેમચન્દ્રસૂરિજી
(મૂળ ગ્રન્થના અને પળિડત સુખલાલજીની વિસ્તૃત હિન્દી પ્રસ્તાવના તેમજ દાર્શનિક હિન્દી ટિપ્પણોના ગુજરાતી અનુવાદ સહિત)
અનુવાદકાર - નગીન જી. શાહ, સમ્પા. ડૉ. નગીન શાહ, ડૉ.રમણીક શાહ, પ્રકાશક : શ્રી ૧૦૮ જૈન તીર્થદર્શન ભવન ટ્રસ્ટ, પાલીતાણા - અમદાવાદ - મુંબઈ, પ્રકાશન વર્ષ : ઈ.સ. ૨૦૦૬
૬. **જૈન ધર્મ-દર્શન** (મૂળ હિન્દી ગ્રન્થનો ગુજરાતી અનુવાદ), મૂળ લેખક : ડૉ. મોહનલાલ મેહતા, અનુવાદક : ડૉ. નગીન જી. શાહ, સમ્પાદક : ડૉ. નગીન શાહ, ડૉ. રમણીક શાહ, પ્રકાશક - શ્રી ૧૦૮ જૈન તીર્થદર્શન ભવન ટ્રસ્ટ, પાલીતાણા-અમદાવાદ-મુંબઈ.
પ્રકાશન વર્ષ - ઈ.સ. ૨૦૦૫
૭. **જૈન સાહિત્યનો બૃહદ્ ઇતિહાસ: ભાગ-૩** (મૂળ હિન્દી ગ્રન્થનો ગુજરાતી અનુવાદ), વિષય : આગમિક વ્યાખ્યાઓ, મૂળ લેખક : ડૉ. મોહનલાલ મેહતા, અનુવાદક : ડૉ. રમણીક શાહ, સમ્પાદક : ડૉ. નગીન શાહ, ડૉ. રમણીક શાહ, પ્રકાશક - શ્રી ૧૦૮ જૈન તીર્થદર્શન ભવન ટ્રસ્ટ, પાલીતાણા-અમદાવાદ-મુંબઈ. પ્રકાશન વર્ષ - ઈ.સ. ૨૦૦૭
૮. **જૈન સાહિત્યનો બૃહદ્ ઇતિહાસ : ભાગ-૫** (મૂળ હિન્દી ગ્રન્થનો ગુજરાતી અનુવાદ), વિષય - લાક્ષણિક સાહિત્ય, મૂળ લેખક : પં. અંબાલાલ પ્રે. શાહ, અનુવાદક : ડૉ. રમણીક શાહ, સમ્પાદક : ડૉ. નગીન શાહ, ડૉ. રમણીક શાહ, પ્રકાશક - શ્રી ૧૦૮ જૈન તીર્થદર્શન ભવન ટ્રસ્ટ, પાલીતાણા-અમદાવાદ-મુંબઈ. પ્રકાશન વર્ષ - ઈ.સ. ૨૦૦૭
૯. **જૈન સાહિત્યનો બૃહદ્ ઇતિહાસ : ભાગ-૬** (મૂળ હિન્દી ગ્રન્થનો ગુજરાતી અનુવાદ), વિષય - જૈન કાવ્યસાહિત્ય (સંસ્કૃત તથા પ્રાકૃત), મૂળ લેખક - ગુલાબચંદ્ર ચૌધરી, અનુવાદક : ડૉ. નગીન શાહ, સમ્પાદક :

- डॉ. नगीन शाह, डॉ. रमणीक शाह, प्रकाशक - श्री १०८ जैन तीर्थदर्शन भवन ट्रस्ट, पालीताणा-अमदावाद-मुंबई. प्रकाशन वर्ष - ई.स. २००६
१०. जैन साहित्यनो बृहद् इतिहास : भाग-७ (मूळ हिन्दी ग्रन्थनो गुजराती अनुवाद), विषय - कन्नड, तामिल अने मराठी जैन साहित्य, लेखक : पं. के. भुजबली शास्त्री, श्री टी.पी. मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्ले, डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, अनुवादक : डॉ. रमणीक शाह, सम्पादक : डॉ. नगीन शाह, डॉ. रमणीक शाह, प्रकाशक - श्री १०८ जैन तीर्थदर्शन भवन ट्रस्ट, पालीताणा-अमदावाद-मुंबई. प्रकाशन वर्ष - ई.स. २००७

—X—



कल्प-श्रवण करी रहेल श्रीसंघ - मांडवी : खरतरगच्छ संघ भण्डार : ताडपत्र